आलोचना के पथ पर

आलोचना के पथ पर

लेखक
कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
बिरला आर्ट्स कालेज, पिलानी

भूमिका-लेखक
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

१९५९
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

दो शब्द

'आलोचना के पथ पर' हिन्दी के सुयोग्य समीक्षक श्री कन्हैयालाल सहल का नवीन निबन्ध-संग्रह है। समीक्षा-कार्य करते हुए साहित्य के जिन तात्विक प्रश्नों और समस्याओं पर सहलजी की दृष्टि गई है, उनकी अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट व्याख्या इन निबन्धों में की गई है। इस दृष्टि से पुस्तक का नाम सर्वथा सार्थक है। कहीं किसी साहित्यिक समस्या के उपस्थित होने पर यदि तद्विषयक कोई प्राचीन उल्लेख, निर्णय या सिद्धान्त सहलजी के सम्मुख आ गया है तो उसे भी उन्होंने 'आलोचना के पथ पर' अपने उपयोग में ले लिया है। भारतीय और विदेशी दोनों ही शास्त्रीय मतों को उन्होंने अपनाया है और हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी काव्य की समीक्षा-भूमि पर उक्त दोनों मतों का अनायास समन्वय किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्यिक विचारधाराओं पर अपने अधिकारपूर्ण अध्ययन का ही परिचय नहीं दिया, 'आलोचना के पथ पर' दोनों के समन्वय की भी सम्भावना प्रकट कर दी है। इस प्रकार सहलजी ने साहित्यिक धरातल पर पूर्व और पश्चिम के आधार-समन्वय के उस प्रयत्न में अपना योग दिया है जो आज की एक प्रधान साहित्यिक आवश्यकता है।

सहलजी के निबन्धों से उनके स्वतन्त्र चिन्तन का पूरा परिचय मिलता है। हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम उनके सभी निर्णयों से सहमत हों। यदि हम उनके साथ अपना सम्पूर्ण मतैक्य स्थापित कर लेते, तब कदाचित् उनकी यथार्थ विशेषता न देख पाते। समीक्षा का कार्य विचारोत्तेजन और वैयक्तिक तथ्य-दर्शन का कार्य है और ये दोनों ही तत्त्व सहलजी के निबन्धों में प्रचुरता से प्राप्त हैं। सहलजी ने अपने निबन्धों में जिन साहित्यिक मतों का उल्लेख किया है, वे किसी सम्पूर्ण विचार-पद्धति के अंग बनकर नहीं आये हैं। वे प्रायः प्रकीर्णक हैं, अतएव लेखक को अपने विषय-निरूपण में स्वतन्त्र विचार-पथ ग्रहण करने का अधिक अवकाश रहा है।

कुछ निबन्धों में आधुनिक साहित्यिक पुस्तकों और रचनाओं—कामायनी,

लहर, साकेत, ग़बन—आदि के पक्ष-विशेष की विवेचनात्मक चर्चा की गई है। इन्हें पढ़कर विवेच्य विषय की यथेष्ट जानकारी होती है और हम नये प्रकाश में उन कृतियों को देखते हैं। सहलजी की तथ्यग्राहिता और उद्भावना-शक्ति इन निबन्धों में सर्वत्र प्रदर्शित हुई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी संसार सहलजी के इस नवीन प्रकाशन का स्वागत करेगा और उनकी इस विद्वत्ता-पूर्ण भेंट के लिए उनका अनुगृहीत होगा।

नन्ददुलारे वाजपेयी

सागर विश्वविद्यालय

उपक्रम

लक्ष्य-ग्रन्थों के श्राधार पर ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। लक्षण-ग्रन्थ बन जाने के बाद यह भी संभव है कि श्रालोचना के शास्त्रीय नियमों का श्रनुवर्तन करने वाली रचनाएँ होने लगें। संस्कृत साहित्य में महाकाव्य श्रौर नाटकों के निर्माण में शास्त्रीय नियमों के बन्धन को प्रायः स्वीकार किया गया है। फ्रेंच लेखकों ने तीनों प्रकार की श्रन्वितियों को दृष्टि में रखकर श्रनेक श्राख्यायिकाएँ लिखी हैं। सामान्य नियमों के श्राधार पर किसी काव्य की श्रालोचना करना निगमन-पद्धति के श्रन्तर्गत है। कला-कृतियों को श्राधार मानकर समीक्षा के नियमों का निर्धारण करना विगमन-पद्धति का श्राश्रय लेना है। फ्रांस के प्रभाववादी सम्प्रदाय ने रुचि को ही समीक्षा में प्रधान ठहराया। किन्तु रुचि से श्रालोचना का शास्त्रीय रूप नहीं श्रा सकता। फिर, एक ही मनुष्य की रुचि भी शिष्टता, संगीत श्रौर संस्कार के कारण समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। रुचि-वैचित्र्य के कारण कविता के प्रतीकों में भी भिन्नता श्रा जाती है। उमर खैयाम की कविता के प्रतीक मधुशाला से ही लिये जायँगे।

जब से मनोविश्लेषण का समालोचना के क्षेत्र में प्रवेश हुश्रा, तब से काव्य के केवल बाह्य परीक्षण से ही श्रालोचकों ने श्रपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझी बल्कि वे कवि के मानस का तथा उसके द्वारा निर्मित पात्रों के श्रचेतन मन का भी विश्लेषण करने लगे। इससे श्रालोचना की सीमा-रेखा में विस्तार हुश्रा श्रौर मनोवृत्तियों की गूढ़ता श्रौर उनके स्वरूप का भी श्रच्छा विवेचन होने लगा। कवि की सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, इसलिए काव्य में वह स्वप्नद्रष्टा बन जाता है।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद ने श्रालोचना को एक नयी दृष्टि दी, श्रालोचना को जैसे एक तीसरा नेत्र मिल गया। मनुष्य के हृदय में यदि भाव न उठें तो वह किसको श्रभिव्यक्ति दे? श्रौर मनुष्य कहलाने वाला कौन

ऐसा प्राणी है जिसमें भावनाओं का आलोड़न-विलोड़न नहीं होता ? इसलिए आलोचकों की ओर से कहा गया कि कविता में एक भाव-पक्ष की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार करनी होगी। भावों को किस रूप में प्रकट किया गया है, इसका अन्वेषण काव्य के कला-पक्ष के अन्तर्गत आएगा। कला-पक्ष सुन्दर हो तो काव्य-सौन्दर्य किस अनुपात में बढ़ता है और भाव-पक्ष मार्मिक होने पर सौन्दर्य का कौनसा प्रतिशत काव्य में बढ़ जाता है, इसका निर्धारण कोई सरल कार्य नहीं। वस्तुतः भाव और अभिव्यक्ति दोनों का सम्मिलित चारुत्व ही काव्य-सौन्दर्य का प्रमुख हेतु है। मार्क्सवादी आलोचना ने विशेषतः इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया कि कवि किस भाव की किस प्रकार की अभिव्यक्ति करता है, यह देखना ही आवश्यक नहीं है, देखना यह है कि जो विचारधारा कवि समाज के सामने उपस्थित करता है, उसका सामाजिक मूल्य क्या है।

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार ?"

ऐसी पंक्तियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। कोई भी कवि अधर में नहीं खड़ा रह सकता। कवि और उसके काव्य को समझना हो तो उसकी पृष्ठभूमि और वातावरण को भली भाँति समझना होगा, अन्यथा कवि और काव्य का विवेचन सर्वथा अधूरा रहेगा।

आलोचना के केवल शास्त्रीय आधार आज नहीं टिक सकते क्योंकि परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ आज उन आधारों में भी परिवर्तन हो गये हैं; भावना-विलासी हृदय के स्वच्छन्द उन्मुक्त व्यापार भी आज नहीं चल सकेंगे क्योंकि आधुनिक युग का मनुष्य आज बुद्धि की कसौटी पर वस्तु का मूल्यांकन करता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का एक महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन है जिससे सहायता लिये बिना आज कोई भी आलोचक अपनी समीक्षा में समग्रता नहीं ला सकेगा। प्रस्तुत पुस्तक में इसीलिए आलोचना के विविध तत्त्वों की व्याख्या के साथ-साथ यत्र-तत्र उनके प्रयोग का भी प्रयास दिखलाई पड़ेगा।

मेरे सुयोग्य अनुज प्रो० श्री नागरमल सहल, एम० ए०, के निरन्तर आग्रह

से ही मैं इन लेखों को लिख पाया हूँ। उन्हीं के विशेष प्रयत्न से ये पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं। उनके सत्परामर्श और ज्ञान का लाभ भी मैंने उठाया है। 'लहर-समीक्षा' शीर्षक लेख तो उन्हीं की सहकारिता में लिखा गया है। इस पुस्तक के कुछ लेख 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित हो चुके हैं जिनके प्रारम्भ में तथा यत्र-तत्र साहित्य-सन्देश के सम्पादक बाबू गुलाबरायजी की टिप्पणी इसलिए रख ली गई है कि उससे आलोच्य विषय पर अधिक प्रकाश पड़ता है। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध तलस्पर्शी आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की जो कृपा की है, उसके लिए अनेक धन्यवाद देकर भी मैं उनसे उऋण नहीं हो सकता। अन्त मे लेखक राजपूताना विश्वविद्यालय के प्रति जिसने प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में २५०) की सहायता प्रदान की है, अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है।

कन्हैयालाल सहल

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

: १ :

आलोचना और मनोविश्लेषण

[विकासवाद की भाँति आजकल फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र की सभ्य समाज में दुहाई दी जाती है। फ्रायड के कार्य की महत्ता स्वीकार करते हुए विद्वान् लेखक ने उसकी सीमाएँ निर्धारित की हैं जिसके बाहर उसकी गति नहीं है। इसी के साथ उन्होंने आजकल के उपन्यास-साहित्य के रचयिताओं को एक गहरी चेतावनी दी है, वह यह कि जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिएँ, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं। वास्तव में हो भी यही रहा है कि उपन्यासकार पाश्चात्य समाज में प्रचलित ग्रन्थियों (Complexes) के ढाँचों में भी अतिरिक्त जीवन ढाल रहे हैं। आजकल के उपन्यासों में भारत में जबरदस्ती इडीपस कंप्लेक्स (Oedipus complex) अर्थात् माता के प्रति दमित काम-वासना के उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार रीतिकाल में नायिकाओं के उदाहरण। लेखक ने प्रायः फ्रायड के ही सिद्धान्त को लिया है। जिन बातों की व्याख्या फ्रायड से नहीं होती उनकी व्याख्या एडलर के मनोविज्ञान (हीनता-ग्रन्थि) से हो जाती है। शेक्सपियर में हीनता-ग्रन्थि तो अवश्य थी ही और सम्भव है कालिदास में भी हो (यदि विद्योत्तमा वाली किंवदन्ती सत्य है) फिर उपनिषदों की लोक एषणा भी बड़ी प्रबल है। कामवासना को भी हमें व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। भरतमुनि ने कहा है जो कुछ पवित्र है, शृङ्गार से उपमा देने योग्य है। —डॉ० गुलाबराय]

प्रकृति के विकास को समझाने के लिए जिस प्रकार डार्विन का नाम लिया जाता है, समाजवाद के सम्बन्ध में जिस प्रकार मार्क्स का नाम उल्लेखनीय है, उसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान और फ्रायड का भी अभिन्न सम्बन्ध है। अचेतन मन का वैज्ञानिक विवेचन कर मनोविश्लेषण-पद्धति को विशद रूप में उपस्थित करने वालों में फ्रायड का नाम ही प्रमुख है। शिक्षा, धर्म आदि अनेक क्षेत्रों में जहाँ मनोविश्लेषण-पद्धति का प्रयोग किया गया है, वहाँ फ्रायड ने

कला और मनोविश्लेषण के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। फ्रायड और उसके अनुयायियों की दृष्टि में कला के निर्माण में अचेतन मन का बड़ा हाथ रहता है। बहुत से कवियों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि वे अंतःस्फूर्ति से प्रेरित होकर काव्य रचना करते हैं—वे तो अनायास लिखते चले जाते हैं, ऐसा जान पड़ता है जैसे वे किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में साधन मात्र हों। गेटे ने लिखा था कि उसकी बहुत सी कविताएँ स्वप्न-तुल्य अवस्था में रात्रि के समय लिखी गई थीं। भावावेश की अवस्था उपस्थित होने पर वह अकस्मात् ही चारपाई से उछल पड़ता और शीघ्र ही अपनी मेज के पास पहुँच कर बात की बात में संपूर्ण कविता लिख डालता था। प्लेटो ने भी अन्तः-स्फूर्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।—"स्वयं काव्य की देवी ही मनुष्यों में अन्तःस्फूर्ति भरती है।······क्योंकि सभी अच्छे कवि चाहे वे प्रबन्ध-काव्य के रचयिता हों, चाहे गीति-काव्य के, कला की सहायता से सुन्दर रचना नहीं कर पाते; वे तो किसी अदृश्य शक्ति से अभिभूत होकर अन्तःस्फूर्ति प्राप्त किये रहते हैं। होश-हवाश में रहने पर जिस तरह भक्त नृत्य नहीं करने लगते, उसी तरह सुन्दर-सुन्दर गीतियों को शब्द-बद्ध करने वाले कवि भी काव्य-रचना करते समय अपने वश में नहीं रहते·····'कवि तो एक प्रकार की ज्योति है, एक पुनीत वस्तु है—कल्पना के उन्मुक्त पंख फैलाकर उड़ने वाला प्राणी।'

मनोविश्लेषण तो इस प्रकार की अन्तःस्फूर्ति को अचेतन मन का ही व्या-पार मानता है। इसलिए बहुत से मनोविश्लेषण के आचार्यों ने कवि की रच-नाओं के आधार पर उसके आन्तरिक जीवन के रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न किया है। स्वयं फ्रायड ने कला का उद्गम कलाकार के दिवास्वप्नों में ढूँढ़ा है। मनुष्य की सब इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। कलाकार भी प्रतिष्ठा, शक्ति, द्रव्य, यश और स्त्रियों का प्रेम प्राप्त करना चाहता है किन्तु यथार्थ जगत् में जब वह इनको प्राप्त नहीं कर पाता तो कल्पना की सृष्टि कर वह उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर कलाकार अपनी रचनाओं में अतृप्त इच्छाओं का ही प्रदर्शन करता है तो दूसरे क्यों उसकी रचनाओं में दिलचस्पी लेते हैं? बात यह है कि कलाकार अपनी अतृप्त इच्छाओं को आत्म-चरित के रूप में उपस्थित नहीं

करता, दूसरे पात्रों पर घटित करके वह अपनी अतृप्त इच्छाओं को अभिव्यक्त कर देता है। इससे इच्छाओं का व्यक्तिगत रूप तिरोहित हो जाता है जिससे अन्य पाठक भी काव्य का रसास्वादन कर पाते हैं। यह बहुत संभव है कि, कवि की जो इच्छाएं अतृप्त रही हों, पाठकों की भी उसी प्रकार इच्छाएँ अतृप्त रह गई हों। इससे स्पष्ट है कि मनोविश्लेषण का सिद्धान्त लेखकों तथा पाठकों दोनों से सम्बन्ध रखता है। इस दृष्टि से देखने पर कला भी स्वप्न की भाँति अचेतन इच्छाओं की काल्पनिक तृप्ति जान पड़ती है किन्तु स्वप्न और कला-कृति में अन्तर यह है कि जहाँ कला-कृति द्वारा लेखक तथा पाठक दोनों ही अपनी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति कर पाते हैं, वहाँ स्वप्न के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नही कही जा सकती; स्वप्न व्यक्तिगत वस्तु है, समाज से उसका सम्बन्ध नहीं—कला व्यक्तिगत होते हुए भी अ-व्यक्तिगत हो जाती है। पंत जी की 'भावी पत्नी' शीर्षक कविता को लीजिये; मनोविश्लेषण-पद्धति का आलोचक संभवतः यह कहे कि काव्यगत भावी पत्नी का चित्र खड़ा कर कवि ने पत्नी के सम्बन्ध में अपनी अतृप्त इच्छा की पूर्ति की है। जैनेन्द्रजी की 'एक रात' कहानी के सम्बन्ध में भी इसी से मिलती-जुलती बात कही जा सकती है। बहुत से पाठक भी अपनी अतृप्त काम-भावना की तृप्ति इस प्रकार की रचनाओं द्वारा कर पाते हैं, इसलिए उनको आनन्द मिलता है। इस प्रकार की आलोचना में लेखक की प्रतिभा और रचना-तन्त्र (technique) पर विचार नहीं हो पाता। मनोविश्लेषण के आचार्यों ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि ऐसा करना उनके लिए सभव नहीं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। क्या विश्व के सभी बड़े कलाकारों की कृतियाँ उनकी कुण्ठित इच्छाओं का परिणाम हैं? क्या उनकी कुण्ठाओं को ही रसास्वादन के रूप में हम अब तक ग्रहण करते चले आ रहे हैं? नाट्यकार शेक्सपियर की आलोचना में कहा गया है कि उसने निर्वैयक्तिकता का निर्वाह प्रायः सर्वत्र किया है। हैमलेट को छोड़कर शेक्सपियर के अन्य नाटकों में संभवतः इस बात का पता नही चल पाता कि कौनसे पात्र द्वारा शेक्सपियर स्वयं बोल रहा है। इस वैशिष्ट्य के लिए शेक्सपियर की बड़ी प्रशंसा की जाती है। प्रसाद के नाटकों में इसका स्पष्ट आभास मिल जाता है कि कौनसे पात्रों के माध्यम द्वारा प्रसाद अपने विचार

प्रकट कर रहे हैं। इसे नाट्यकार प्रसाद की न्यूनता समझी जाती है और यह है भी। प्रसाद के कतिपय पात्र तो दोहरे व्यक्तित्व से समन्वित हो गये हैं। ऐतिहासिक स्कन्दगुप्त क्या उतना ही दार्शनिक और निवृत्तिप्रधान रहा होगा जितना प्रसाद ने उसे चित्रित किया है ? उसके मानो दो व्यक्तित्व हो गये हैं—एक ऐतिहासिक और दूसरा प्रसाद द्वारा आरोपित व्यक्तित्व। विश्व के बड़े-बड़े कलाकारों की निर्वैयक्तिकता को हम किसी भी प्रकार कुण्ठा का परिणाम नहीं मान सकते। यह सच है कि ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनके विश्लेषण करने पर हम उनमें कलाकारों की दमित इच्छाओं की तृप्ति पाते हैं किन्तु सभी रचनाओं के लिए यह कह देना कलाकारों के साथ अन्याय करना होगा। फिर रचनाएँ तो सोद्देश्य और निरुद्देश्य दोनों प्रकार की हो सकती हैं। क्या सभी सोद्देश्य रचनाओं के मूल में भी अचेतन वासनाओं का नृत्य हो रहा है ? आज की प्रगतिवादी रचनाओं को लीजिये। हो सकता है कि उनमें से अनेक रचनाएँ ऐसी हों जो दमित इच्छाओं के परिणामस्वरूप लिखी गई हों किन्तु सभी रचनाओं के लिए क्या यही बात कही जा सकती है ? शेक्सपियर की चतुर्दशपदियों (sonnets) के सम्बन्ध में वर्डस्वर्थ ने लिखा था (With this key Shakespeare unlocked his heart) वर्डस्वर्थ के कहने का तात्पर्य यह था कि नाटकों में तो शेक्सपियर इतना निर्वैयक्तिक है कि उसके व्यक्तिगत आन्तरिक भावों का कुछ पता नही चलता। इन चतुर्दशपदियों की चाबी के द्वारा ही उसने अपना हृदय जो अब तक मानो ताले में बन्द था लोगों के सामने खोलकर रख दिया है। वर्ड्स्वर्थ की इस उक्ति के प्रत्युत्तर में शेक्सपियर के किसी दूसरे आलोचक ने कहा था—"If this be so, the less Shakespeare he." शेक्सपियर तो मानो इतना महान् कलाकार है कि उसके 'स्व' का जैसे पता ही नहीं चलता—अपने 'स्व' को सर्वत्र वितरित कर जैसे वह बहुत ऊँचा उठ गया हो—एकदम तटस्थ हो गया हो।

"भारतवर्ष का पुराना कवि एक ही चाँद को आज पीयूष-वर्षी, कल अंगार-वर्षी और परसों चाँदी की थाली कह सकता था, बशर्ते कि आज उसकी कल्पित नायिका स्वाधीनपतिका हो, कल प्रोषितपतिका हो और परसों घर से बाहर चली गई हो। संस्कृत कवि ने इस काव्य-दृष्टि का परिहास करने के लिए एक संन्यासी के मुँह से निम्नलिखित श्लोक कहलवाया था—

"येषां वल्लभया समं क्षणमपि क्षिप्रं क्षपा क्षीयते
तेषां शीतकरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्
अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिनाम्
इन्दू राजति दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वा शीतलः !"

अर्थात् अपनी प्रयसी के संयोग में क्षण भर भी जिनकी रात्रि व्यतीत होती है, उनके लिए चन्द्रमा शीतलता प्रदान करने वाला है, पर विरहीजनों के लिए वह उल्का की तरह संतापकारी है। किन्तु हमारी न कोई प्रेयसी, न किसी से हमारा विरह ! हमें तो चन्द्रमा दर्पण के आकार वाला दिखलाई पड़ता है—न उष्ण, न शीतल !

"आधुनिक कवि ने निरासक्त और निर्वैयक्तिक दृष्टि से वस्तु के सौन्दर्य को देखना चाहा है। वह प्रिया को यह कहकर पुकारने में गौरव का अनुभव करता है कि हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, समुद्र से भी, और मेंढक से भी। क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं है। सूर्य और समुद्र अपने आप में कितने महान् सत्य हैं ! हम मेंढ़क को छोटा या कुत्सित इस लिए देखते हैं कि उसे अपनी रुचि-अरुचि और अनुरक्ति-विरक्ति में सान देते हैं। निरासक्त भाव से देखने पर मेंढक में कहीं भी लघुता और कुत्सितता नहीं है। आज का पाठक पुराना पाठक नही है जो अपनी रुचि-अरुचि को इस बुद्धिगम्य सौन्दर्य के मार्ग में बाधा खड़ी करने को प्रोत्साहित करे।"

—(श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के एक लेख से उद्धृत)

पता नहीं, इस प्रकार के अनासक्त साहित्य के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण-पद्धति का आलोचक क्या कहेगा ! संभवतः नवीनता-प्रदर्शन की अचेतन भावना इस प्रकार की उक्तियों में काम कर रही हो।

साहित्य में श्लील और अश्लील का प्रश्न भी बहुधा उठाया जाता है। मूलतः यह प्रश्न भी मनोविश्लेषण से ही सम्बद्ध है। अश्लील साहित्य की सृष्टि करने वाला लेखक क्या विशुद्ध मन का व्यक्ति हो सकता है ? ऊपर से सच्चरित्र और विशुद्ध दिखलाई पड़ने वाला लेखक भी जब साहित्य में अश्लीलता का परिचय देता है तो उसकी कृति से उसके अचेतन मन पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता। कुछ आलोचक ऐसे होते हैं जो कवि की कृतियों से

उसके मानसिक रोगों का उद्घाटन करने में ही मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की सार्थकता समझते हैं। यह तो सीमा का अतिक्रमण कर एक अतिवाद का आश्रय लेना है। फिर भी कलात्मक कृतियों में अचेतन मन का जो हाथ रहता है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। कलाकार की कृतियों के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। दूसरी बात यह है कि कला में काम-भावना की प्रमुखता सभी देशों के साहित्यों में देखी जाती है। भारतीय साहित्य में शृंगार को जो आदि रस और रसराज कहा गया है, वह अकारण नहीं है। उसमें भी मनोवैज्ञानिक सत्य अन्तर्हित है। मनुष्य के लिए ही क्या, पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है कि गर्भाधान के मौसम में उनमें भी मुखरता की सर्वाधिक वृद्धि देखी जाती है। काम के तरु पर ही कला के पुष्प खिलते हैं—इस उक्ति में सचाई का बहुतांश देखने को मिल सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि अचेतन मन का वैज्ञानिक विश्लेषण तो फ्रायड की देन है किन्तु फ्रायड से पूर्ववर्ती साहित्य में भी अचेतन मन से सम्बन्ध रखने वाली उक्तियाँ कहीं-कहीं मिल जाती हैं। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल से दुष्यन्त की निम्नलिखित उक्ति से अचेतन मन की समस्या पर प्रकाश पड़ता है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननांतरसौहृदानि ॥"

अर्थात् सुखी मनुष्य भी रम्य स्थानों को देखकर या मधुर शब्द सुनकर जो बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह अपने अचेतन मन में संस्कार के कारण स्थिर जन्म-जन्मान्तर के प्रेम-भावों का स्मरण करता है। दुष्यंत के कानों में एक संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ती है जिसमें वियोग का वर्णन है। गीत को सुनकर उसका मन चंचल हो उठता है। दुष्यन्त के चेतन मन को यह पता नहीं कि वह शकुन्तला से वियुक्त है किन्तु उसके अचेतन मन में यह भाव समाया हुआ है जो उसके चेतन मन को भी प्रभावित करता है।

फ्रायड ने तो इस जन्म में पड़े हुए मानसिक संस्कारों का ही वर्णन किया है, जुंग ने जातिगत चेतना (Racial consciousness) की बात उठाकर मानसिक संस्कारों के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है किन्तु भारतीय कवि ने तो मानसिक संस्कारों का जन्म-जन्मान्तरों से सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी के कवि श्री सियारामशरण गुप्त ने तो इसे प्रत्यक्ष तथ्य मानकर यहाँ तक कह दिया है—

"देख कर यह समुदाय समाज
आज होता है मुझको ज्ञात
विगत जन्मों में भी बहुबार
मिले हैं हम सब इसी प्रकार
भूल कर मैंने किसी प्रकार
किया हो यदि कुछ गुरु अपराध
क्षमा उसके निमित्त शत बार
माँगता हूँ मैं हाथ पसार।"

इस जन्म के अपराधों के लिए तो लोग क्षमा माँगते देखे गये हैं किन्तु बलिहारी है इस कवि की जो जन्म-जन्मान्तरों के अपराधों के लिए इस जन्म के लोगों से क्षमा-याचना कर रहा है !

अचेतन मन और काम भावना की प्रमुखता स्वीकार कर लेने के बाद काम के उन्नयन (sublimation) पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा। मनोविश्लेषणशास्त्र में भक्ति आदि को काम का ही उदात्त रूप कहा गया है। एक तुलसीदास अपने प्रेम का प्रवाह नारी की ओर से हटाकर भगवान् की ओर उन्मुख कर देते हैं; एक रसखान ऐन्द्रिय प्रेम से ऊपर उठकर 'माखन चाखन हार' के प्रेम में तल्लीन होकर ऐसा रस प्रवाहित करते हैं जिस पर भारतेन्दु जैसे रसिक कवि भी सौ जान से न्यौछावर हो जाते हैं—"इन मुसलमान हरिजनन पैं कोटिन हिन्दू वारिये"। घनानन्द भी सुजान के प्रति अपने प्रेम-प्रवाह को भगवान् की ओर मोड़ देते हैं और उस प्रेम-विह्वला मीरा का तो कहना ही क्या, जिसका जीवन ही भक्ति से आप्लावित रहा। यदि मीरा की भक्ति भी काम का उदात्त रूप है तो निश्चय ही ऐसा परि-

मार्जित रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है ।

विषय के सम्यक् विवेचन के लिए मनोविश्लेषण के प्रतीकों पर भी दो शब्द कहना आवश्यक जान पड़ता है । कभी-कभी हम स्वप्न देखते हैं तो ऐसे चित्र हमारे सामने आते हैं जिनका हमारे मन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता । किन्तु मनोविश्लेषण के आचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यथार्थ जगत् में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके स्वप्न-चित्र हमेशा एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं । उदाहरणार्थ यदि स्वप्न में आप कोई मकान देखते हैं तो वह हमेशा मनुष्य के शरीर का द्योतक होगा । मनोविश्लेषण वालों के कुछ प्रतीक हैं । यथा—

राजा और रानी=माता-पिता

यात्रा (प्रयाण)=मृत्यु

छोटे जानवर=भाई-बहिन

बाग-बगीचे, कुसुम और कलियाँ=कामिनी का शरीर अथवा उसके विभिन्न अङ्ग ।

इस प्रकार के छाया-चित्र जो हमेशा सभी मानव-समुदाय के लिए एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं, मनोविश्लेषण-शास्त्र में प्रतीक कहलाते हैं । यह तो माना जा सकता है कि काम एक बहुत प्रचण्ड सहज-वृत्ति है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यही एक मात्र सहज वृत्ति है जिसकी अन्य सम सहज-वृत्तियाँ रूपान्तर मात्र हैं ? जब हम किसी उद्यान के सौन्दर्य का रसास्वादन करते हैं तब मनोविश्लेषण के आचार्यों के अनुसार उसके पीछे भी प्रच्छन्न रूप से काम-भावना ही अपना काम कर रही होती है । उद्यान के कुसुम तथा कलियों के सौन्दर्य का रसास्वादन तो प्रच्छन्न रूप से कामिनी के अंगों के सौन्दर्य का रसास्वादन है । भारतीय साहित्य में उद्यान तथा कुसुम-कलियों को काम के उद्दीपक के रूप में ग्रहण किया गया है; स्वयं कामदेव का चित्रण भी पुष्प-धन्वा के रूप में हुआ है । इस बात का पता लग जाने पर भी कि उद्यान के आनन्द के मूल में केवल अंगों का आनन्द है, हम उद्यान के आनन्द को छोड़ना नहीं चाहते । उद्यान तो केवल प्रतीक है किन्तु मूल वस्तु (कामिनी का अंग) को छोड़कर भी जब हम उद्यान की इच्छा करते हैं तो इससे स्पष्ट है कि उद्यान का भी महत्त्व केवल प्रतीक के रूप में ही नहीं है, स्वतः उद्यान का भी

महत्त्व है। यह हो सकता है कि प्रच्छन्न काम-भाव चाहे ९५ प्रतिशत ही क्यों न हो, स्वतः उद्यान का आनन्द भी कुछ प्रतिशत तो माना हा जायगा।

साहित्य की आलोचना में मनोविश्लेषण का निश्चित स्थान है किन्तु मनोविश्लेषण की भी एक सीमा है, उसको लेकर कवि के मानसिक रोगों का मनगढ़न्त लेखा-जोखा करना उचित नहीं जान पड़ता। हाँ, मनोविश्लेषण की मर्यादाओं को मानते हुए विषय के स्पष्टीकरण के लिए उसका समुचित प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बच्चनजी की एक कविता को लीजिये—

"जीवन में एक सितारा था
माना वह बेहद प्यारा था
वह डूब गया तो डूब गया।
अंबर के आनन को देखो
कितने इसके तारे टूटे
कितने इसके प्यारे छूटे
जो छूट गये फिर कहाँ मिले"
पर बोलो टूटे तारों पर अंबर कब शोक मनाता है !

कहा जाता है कि सन् १९४२ में दूसरी शादी करने के बाद कवि ने इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये हैं। पहली स्त्री की मृत्यु के समय जो यह कहते कि हम दूसरा विवाह कभी नहीं करेंगे वे भी मौका आने पर दूसरा विवाह करते देखे गए हैं। तथ्य यह है कि बुद्धि सहज-वृत्ति को इतना प्रभावित नहीं करती जितना सहज-वृत्ति बुद्धि को प्रभावित करती है। सहज-वृत्तियों में इतनी प्रबल शक्ति होती है कि वे बुद्धि को भी अपने अनुकूल बना लेती हैं।

इस प्रकार के विश्लेषण कविता के मर्म को समझाने में हमारी सहायता करते हैं किन्तु किसी काव्य से कवि के आत्म-चरित की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को प्रस्तुत करने में बड़ा खतरा है। आवश्यकता इस बात की है कि मनोविश्लेषण का समुचित प्रयोग हो। अच्छा सिद्धान्त भी दुरुपयोग से बदनाम हो जाता है। सीमा का अतिक्रमण वांछनीय नहीं। जीवन से मनोविज्ञान के सिद्धान्त निकलने चाहिएँ, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से जीवन नहीं।

: २ :

अलंकार और मनोविज्ञान

["अलंकार और मनोविज्ञान का बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है यद्यपि अब यह धारणा दूर होती जाती है कि अलंकार कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पीछे से नगीने की भाँति रचना में जड़े जा सकें तथापि आजकल भी अलंकारों के समर्थकों में ऐसे लोग मिल जाते हैं जो अलंकारों को ऊपर की चीज समझते हैं। उनके लिए यह लेख नेत्रोन्मीलन का काम करेगा। विद्वान् लेखक ने यद्यपि अपनी अत्यधिक ईमानदारी के कारण यह माना है कि हमारे यहाँ अलंकारों का मनोवैज्ञानिक निरूपण नहीं हुआ किन्तु विद्वान् लेखक ने जो प्राचीन अलंकारशास्त्रों के उद्धरण दिये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आचार्यों की पहुँच मनोवैज्ञानिक थी। वे उद्धरण बहुत मूल्यवान हैं। लेखक ने मनोभाव और अलंकारों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि अलंकारों के मूल में कवि के हृदय का उत्साह है। उसका साधारण बात से जी न भरना उसे आलंकारिकता की ओर ले जाता है। सहलजी ने अपने विवेचन में तीन मनोवैज्ञानिक आधार स्तम्भों पर विशेष बल दिया है, (१) साम्य—(२) विरोध, और (३) भाव-साहचर्य। एक चौथा स्तम्भ मान लें तो पूर्णता आ जाय वह है बौद्धिक-शृङ्खला अथवा उसका आभास, इसमें सार, काव्य-लिङ्ग प्रमाण आदि अलंकार आ सकते हैं। वैसे ये भाव-साहचर्य के व्यापक अर्थ में आ सकते हैं किन्तु पूर्णता के लिए एक पृथक् स्तम्भ आवश्यक है।"

—बा० गुलाबराय]

अलंकार-विषयक किसी पाठ्य-ग्रन्थ को उठाकर देखने से यह भ्रम हो सकता है कि अलंकार नितान्त कृत्रिम है, उनका प्रयोग प्रयत्न-सापेक्ष है तथा बहुत से तो केवल कलाबाजी दिखाने के साधन मात्र हैं। इस भ्रम के दो आधार हैं— (१) रीति-ग्रन्थों में अलंकारों के मनोवैज्ञानिक विवेचन का अभाव और (२) अलंकारवादी कवियों द्वारा किया हुआ अलंकारों का दुरुपयोग।

प्रश्न यह है कि क्या अलंकारों का कोई मनोवैज्ञानिक आधार है ? क्या अलंकारों का सहज प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायक नहीं होता ?

इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि भावाभिव्यक्ति के पहले हमारे मन में विचारों की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं, और अलंकार भी विचारों को प्रकट करने की एक प्रणाली, एक पद्धति मात्र ही तो है—इसलिए अलंकारों का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है।' 'प्राचीन भारतवर्ष में आजकल का-सा ज्ञान का विशेषीकरण न था। शायद इसीलिए कि वे लोग ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित रखने में अधिक विश्वास रखते थे। उनके लिए ज्ञान एक अखण्ड वस्तु थी। वे उसे संश्लिष्ट रूप में ही देखना चाहते थे। यद्यपि प्राचीन वाङ्मय में मनोविज्ञान नाम का कोई विशेष शास्त्र न था तथापि योग, न्याय आदि दर्शनों में तथा साहित्यशास्त्र में मनोविज्ञान सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। साहित्य में भावात्मक या रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होने के कारण उस पर प्रकाश डालने वाले काव्य की आत्मा स्वरूप रस के निरूपण में मनोवेगों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है'[१] स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान का विवेचन न होने से ही सम्भवतः भारतीय साहित्य में अलंकारों के मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया गया; अलंकारों का वर्गीकरण भी किसी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर नहीं हुआ। हाँ, रुद्रट ने अवश्य अपने ढङ्ग पर पहले-पहल अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयास किया। उसके पूर्ववर्ती आचार्य अलंकारों के बाह्य रूप को देखकर ही प्रकट या अप्रकट रूप से अलंकारों का द्विविध (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार) अथवा त्रिविध वर्गीकरण (शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार) कर दिया करते थे। रुद्रट ने अर्थालंकारों के चार वर्ग निर्धारित किये—(१) वास्तव अर्थात् यथार्थ चित्रण से सम्बन्ध रखने वाले, (२) औपम्य अर्थात् समानता पर आश्रित, (३) अतिशय अर्थात् चमत्कार-प्रधान, और (४) श्लेष पर आश्रित।

आगे चलकर विद्यानाथ ने अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का दूसरा प्रयास किया। एक वर्गीकरण के अनुसार उसने अर्थालंकारों के चार विभाग

---

१. बाबू गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १४-१५।

स्थिर किये—(१) जिनमें वस्तु की प्रतीति हो, (२) जिनमें उपमा की ध्वनि हो, (३) जिनमें रसादि की ध्वनि हो, और (४) जिनमें किसी भी प्रकार की ध्वनि न हो। दूसरे वर्गीकरण के अनुसार उसने अर्थालंकारों के ९ वर्ग निश्चित किए—(१) साधर्म्यमूल, (२) अध्यवसायमूल, (३) विरोधमूल, (४) वाक्यन्यायमूल, (५) लोकव्यवहारमूल, (६) तर्कन्यायमूल, (७) शृंखला-वैचित्र्यमूल, (८) अपह्नवमूल, और (९) विशेषणवैचित्र्यमूल।

रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृंखला और न्याय (तर्कसंगत हेतु) के आधार पर अर्थालंकारों का एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

अलंकार और मनोविज्ञान

शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार—इस प्रकार के वर्गीकरण का तो निश्चय ही मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो अलंकारों के वाह्य रूप से ही सम्बन्ध रखता है किन्तु रुद्रट, विद्यानाथ और रुय्यक के द्वारा किये गये वर्गीकरण में औपम्य, विरोध आदि कुछ मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य मिल जाते हैं किन्तु ऐसे वर्गीकरणों को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता किन्तु इनमें मनोवैज्ञानिक और वाह्य आधारों का घपला कर दिया गया है।[1]

अलंकारों के मनोविज्ञान पर विचार कर लेना भी यहाँ असंगत न होगा। विचारों के विश्लेषण में तीन मानसिक प्रक्रियाओं का स्पष्टतः निर्देश किया जा सकता है।

(१) सादृश्य एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। सादृश्य के आधार पर ही बच्चे का ज्ञान अग्रसर होता है। दो वस्तुओं की समानता को देख कर छोटे बच्चे का भी उस ओर ध्यान चला जाता है। वर्षा ऋतु में छत पर से गिरते हुए नाले के पानी को देखकर उस दिन बच्चे ने कहा था—

'देखिए पिताजी, नाला कूद रहा है।' 'कूद रहा है' के क्रियागत लाक्षणिक प्रयोग में भी साम्य ही अपना काम कर रहा था। 'किसी निष्ठुर कर्म करने

---

1. None of these classifications is strictly scientific for they mix broad heads indicating psychological factors (like similarity, contrast or contiguity) with mere formal bases of classification as गूढार्थप्रतीति or अपन्हव —Sanskrit Poetics. S. K. Dey.

वाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है, क्योंकि विरक्ति वा घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है।···भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं वह इसलिए कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है, उसकी व्यंजना नहीं होती।' आचार्य शुक्ल के इस कथन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के रूपकगत प्रयोगों के द्वारा हम अपने मन के गुब्बार निकाला करते हैं। 'चाँद का टुकड़ा', 'चाँद-सा मुखड़ा' आदि जो रूपक अथवा उपमा से सम्बन्ध रखने वाले प्रयोग प्रचलित हैं, वे भी वक्ताओं की भावनाओं के ही परिचायक हैं। सुन्दर रूप के वर्णन में अनेक उपमाएँ जो कवि के सामने अहमहमिकापूर्वक आने लगती हैं, वे केवल नियम-निर्वाह के लिए नहीं, उनसे अपूर्व सौन्दर्य-दर्शन के कारण कवि के मानसिक आह्लाद की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ—

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।
आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम ;
अरुण रवि मंडल उनको भेद, दिखाई देता हो छविधाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघुश्रृंग, फोड़ कर धधक रही हो कांत ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत, माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल, अंस अवलंबित मुख के पास ;
नील घन-शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।"

—कामायनी

कामायनी के सौन्दर्य का यह वर्णन यहीं पूरा नहीं हो जाता किन्तु कहाँ तक कोई उद्धृत करे ! सौन्दर्य-वर्णन में उपमाओं की वह झड़ी क्यों ? यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया जा सकता है जिसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसा किये बिना कवि का जी नहीं भरता ; उसका मन सौन्दर्य के इस अप्रतिम रूप के साथ जैसे रमण करना चाहता हो। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति वाला आलोचक चाहे तो यह कहले कि इस प्रकार की उपमाओं की झड़ी द्वारा कवि अपनी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति कर रहा है !

कुछ प्रमुख सादृश्य मूलक अलंकारों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें। (१) सन्देह में शब्दतः सादृश्य का कथन नहीं होता, यद्यपि सन्देह होता है सादृश्य के ही कारण, (२) उपमा में सादृश्य की दृष्टि से हम आगे बढ़ते हैं और समान आदि शब्दों द्वारा साम्य-स्थापन करते हैं, (३) उत्प्रेक्षा में सादृश्य की मात्रा और भी बढ़ जाती है और हम उपमेय और उपमान के एक होने की सम्भावना करने लग जाते हैं, (४) रूपक में उपमेय और उपमान दोनो को एक कहने लगते हैं, (५) अपह्नुति में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि हम उपमेय का निषेध करने लगते हैं—उदाहरणार्थ "माननीय टंडन जी ने प्रदर्शिनी का उद्घाटन नहीं किया है, हमारे हृदयों का उद्घाटन किया है।" (६) रूपकातिशयोक्ति में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि उसमें उपमेय का निगीरण कर केवल उपमान का कथन किया जाता है। जैसे किसी नायिका को आते हुए देखकर कहा जाय "चन्द्रमा आ रहा है।" (७) भ्रांतिमान् में सादृश्य इतना बढ़ जाता है कि सचमुच भ्रम हो जाता है; ऊपर के अन्य छः अलंकारों में उपमेय और उपमान के भेद पर प्रयोक्ता की दृष्टि बनी रहती है।

उक्त अलंकारों में 'सन्देह' यदि नीचे की सीढ़ी पर स्थित है तो सादृश्य की दृष्टि से 'भ्रांतिमान्' ऊँची से ऊँची सीढ़ी पर है। सादृश्य का यह विविध वर्णन कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ भावाभिव्यक्ति के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढंग निकाल लेती हैं।

(२) विरोध की मानसिक पद्धति विरोधमूलक अलंकारों में काम करती हुई दिखलाई पड़ती है। इन अलंकारों में आपाततः विरोध दिखलाई पड़ता है किन्तु वस्तुतः विरोध नहीं होता। कुछ उदाहरण लीजिये—

विरोधाभास

(१) शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का।

—प्रसाद

(२) धन्य दूरता ही प्रिय की जो और निकट ले आवे।

—मैथिलीशरण गुप्त

विषम

खड्ग लता अति श्याम तें उपजी कीरति सेत।

विशेषोक्ति

नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय।

असंगति

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।

विरोधमूलक अलंकार अवश्य ऐसे हैं जिनमें चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अच्छा अवसर कवि को मिल जाता है। कवि-विशेष के अलंकार-प्रयोग को देखकर भी उसके मन की वृत्तियों का अध्ययन कुछ आलोचक किया करते हैं।

एक दृष्टि से देखा जाय तो समानता के सिद्धान्त से ही असमानता अथवा विरोध के सिद्धान्त पर पहुँचा जाता है। कणाद ने निःश्रेयस के लिए साधर्म्य वैधर्म्य परीक्षा को साधन रूप माना है।[1]

(३) भाव-साहचर्य मनोविज्ञान का ही विषय है। हम पहले एक वस्तु देख चुके हैं; उसी से मिलती-जुलती दूसरी वस्तु जब हम देखते हैं तो पहली वस्तु का स्मरण हो आता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा, सूक्ष्म, स्मरण, समासोक्ति इन अलंकारों में भाव साहचर्य का सिद्धान्त ही काम करता हुआ देखा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार है और इस दृष्टि से उनका विवेचन भी किया जा सकता है। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि रसगंगाधर के प्रणेता तत्वान्वेषी पंडितराज जगन्नाथ तक ने अलंकारों की मनोवैज्ञानिकता पर विचार नहीं किया। हिन्दी-साहित्य में भी अलंकारों के मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता है। आजकल अलंकारों की अवहेलना करने की प्रथा-सी चल पड़ी है। यह हम मानते हैं कि

---

१. विरोधमूलक अलंकारों के तीन मनोवैज्ञानिक आधार प्रतीत होते हैं—वैचित्र्य द्वारा ध्यान का आकर्षित होना। विरोध और वैषम्य मन की ऊब को भी दूर कर देता है। दूसरी बात यह है कि विरोध में तुलना के कारण साधारण और असाधारण का अन्तर स्पष्ट हो जाने से वर्ण्य-विषय का महत्व बढ़ जाता है और प्रभाव भी अधिक पड़ता है। तीसरी बात यह है कि इन अलंकारों का विरोध उद्वेगजनक नहीं होता। यह विरोध ऐसा होता है जो व्याख्या से बाहर नहीं होता। विरोध के शमन के साथ एक विशेष प्रसन्नता आ जाती है।

—बा० गुलाबराय

कुछ कवि अवश्य ऐसे हुए जिन्होंने अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग किया—वे इस बात को भूल गए कि अलंकार साध्य नहीं, साधन मात्र हैं किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि अलंकारों का समुचित प्रयोग रसोत्कर्ष में सहायता पहुँचाता है।

भाव और अलंकार

अलंकार शब्द का अर्थ है आभूषण, और आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए होते हैं किन्तु शरीर का सप्राण होना आवश्यक है, नहीं तो 'मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हार संपदः ?' मृगशावक-नयनी[1] के भी शव को हार सुशोभित नहीं कर सकता। इसी प्रकार काव्य में जिन अलंकारों का प्रयोग किया जाता है, वे रस या भाव को सुशोभित रखते हैं किन्तु यदि काव्य रस-हीन हो तो अलंकार भी व्यर्थ हो जायेंगे। हम अपने प्रतिदिन के जीवन में भी देखा करते हैं कि कभी कोई मनुष्य आभूषणों को धारण करता है, कभी उनको उतार फेंकता है। आभूषणों को धारण करने वाले और उतार फेंकने के इस व्यापार द्वारा उस मनुष्य की मनोदशा की ही अभिव्यक्ति होती है। उर्मिला की निम्नलिखित उक्ति से इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

चन्द्रकान्तमणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार।
चन्द्रकान्त आवें प्रथम, जो सबके शृङ्गार॥ —साकेत

सखी उर्मिला को चन्द्रकान्तमणियों के आभूषण पहनाना चाहती है जिससे विरह-ताप की ज्वाला मन्द पड़ जाय। और उसे शीतलता का अनुभव हो सके। इस पर उर्मिला कहती है कि दूर हटा इन चन्द्रकान्तमणियों को; तुम्हारा यह व्यापार मुझे पत्थर मारने के समान जान पड़ता है। चन्द्र के समान कमनीय मेरे प्रिय जो सब के शृंगार हैं वे तो पहले आलें ! बिना चन्द्रकान्त

---

१. 'तथा हि अचेतनं शव-शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावात्।'
—लोचन

अर्थात् अचेतन शवशरीर कुण्डलादि से युक्त होने पर भी शोभित नहीं होता क्योंकि वह अलंकार्य का अभाव है। शव अलंकार्य नहीं हो सकता—अलंकार्य तो है मनुष्य की वह काया जिसमें प्राणों का स्पंदन हो रहा है।

कैसी चन्द्रकान्त मणियाँ ? अलंकार तो हैं लेकिन अलंकारों के लिए उपयुक्त मनोदशा भी होनी चाहिए। ध्वन्यालोककार ने इस सम्बन्ध में कहा है—

"रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥"

—ध्वन्यालोक. II. ६.

रसभावादितात्पर्य का आश्रय लेकर ही अलंकारों का संनिवेश किया जाना चाहिए; तभी वे अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

अकारण अलंकारों को धारण कर लेना और उतार फेंकना—इस प्रकार की मनोवृत्ति बालकों में देखी जाती है। कुछ कवि भी एक प्रकार के 'बुड्ढे बच्चे' हुआ करते हैं जो अपने काव्यों में इस तरह की मनोवृत्ति का परिचय देकर अलंकारों के साथ खिलवाड़ किया करते हैं किन्तु मर्मज्ञ सहृदयों का इस प्रकार के खिलवाड़ से परितोष नहीं होता। वे 'कुछ और' चाहते हैं—उनकी दृष्टि में अलंकार स्वाभाविक हो, सहज हो—उससे रस ध्वनित होता हो। ऐसा मालूम हो जैसे अलंकार स्वतः उद्भूत हो गया है और जब उसकी तरफ हमारा ध्यान जाय तो हम आश्चर्यचकित होकर मुग्ध हो उठें।

भावावेग और अलंकार में जो परस्पर सम्बन्ध है, उसकी ओर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। हृदय में जब भावों के हिल्लोल उठने लगते हैं तब प्रतिभाशाली कवि के सामने अनेक प्रकार के अलंकार मानो 'मैं पहले' 'मैं पहले' कहते हुए अनायास ही उपस्थित होने लगते हैं।[1] ऐसे अवसर पर कभी तो कवि विस्मय-विह्वल हो उठता है; कभी प्रश्न करने लगता है। कभी संबोधन-पद्धति का प्रयोग करता है तो कभी अत्युक्ति से काम लेता है। कभी उपमाओं की झड़ी लगा देता है तो कभी रूपकादि इतर अलंकारों का प्रयोग करता है। वास्तव में कवि वस्तुगत तथ्य का उतना चित्रण नहीं करता

---

१. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे।

—ध्वन्यालोक

जितना वह अपने मनोवेगों की स्थिति का चित्रण करता है।[1] कभी-कभी तो मनोवेगों के प्रवाह में व्याकरण के नियम भी बह जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा—

विस्मय-विह्वलता

बाँधे, बननिधि ? नीरनिधि ?
जलधि ? सिंधु ? बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कंपती ?
उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

—तुलसी

राम का सेतु बाँधना सुनकर रावण को ऐसा लगा जैसे बिलकुल अनहोनी बात हो गई हो। इस पर वह चकपका कर कह उठता है—'बाँधे...नदीश ?' अर्थ की पुनरुक्ति चाहे दूषण समझी जाती हो किन्तु यहाँ तो वह भूषण हो गई है। इस पद्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए आचार्य शुक्ल का 'तुलसीदास' देखिए।

प्रश्न द्वारा भाव-व्यंजना

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनयनी ?" —तुलसी

"कहो, लुवाँ कित जावस्यो पावस धर पड़ियाँह।
हिये नवोढा नार रे, बालम बीछड़ियाँह।।"

अर्थात् हे लुओं, जब पृथ्वी पर वर्षा ऋतु आ जायगी तो तुम कहाँ जाओगी (तुम्हें कहाँ शरण मिलेगी) ? लुएँ उत्तर देती हैं कि उस समय हम उस नवविवाहिता नववधू के हृदय में जाकर रहेंगी जिसका पति बिछुड़ गया है

1. The more emotions grow upon a man, the more his speech abonuds in figures, exclamation, interrogation, anacocluthon, apostrophe, hyperbole (yes, certainly hyperbolel) simile, metaphor. Feelings swamp ideas and language is used to express not the reality of things but the state of one's emotions.

—डा० राघवन के एक लेख से उद्धृत

(उसका हृदय घोर संताप से जलता होगा, सैकड़ों वर्षा ऋतु आकर भी वहाँ हमारा नाश नहीं कर सकती)[1] उक्त दोहे में प्रयुक्त प्रश्नोत्तर अलंकार भाव-व्यंजना में सहायक होने से बहुत ही मार्मिक हो उठा है। वस्तुगत तथ्य की दृष्टि से तो न कभी लुओं से प्रश्न किया जाता है और न कभी किसी ने लुओं को प्रश्नों का उत्तर देते ही देखा है! किन्तु मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना के सामने इस वस्तुगत तथ्य की ओर हमारा ध्यान जाता ही नहीं। भावावेश में कवि भी वस्तुगत तथ्य को भूल जाता है—

> **"इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय ?**
> **नन्हीं दूवा का हृदय निकल पड़ा यह हाय।"**

वीर बहूटी का ही एक नाम इन्द्रबधू भी है। इन्द्रवधू शब्द के आधार पर कवि उर्मिला के मुख से कहलवाता है कि इन्द्रवधू अपना स्वर्ग छोड़कर भला इस पृथ्वी पर (जो कंटकाकीर्ण है) क्यों आने लगी ? यह इन्द्रवधू नहीं, नन्हीं दूबा का हृदय ही निकल पड़ा है। तथ्य की दृष्टि से देखा जाय तो इस उक्ति पर आपत्ति उठाई जा सकती है क्योंकि वर्षा-ऋतु में जब इन्द्रवधू दिखलाई पड़ती है, उस समय दूब तो वापिस खिलती है, उसके हृदय निकल पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु उर्मिला तो अपनी मनोदशा के अनुरूप ही सब वस्तुओं को देखती है। उसके मन में प्रविष्ट होकर कोई कवि की आँखों से देखे तो उक्त पद्य में प्रयुक्त अपह्नुति अलंकार का रहस्य समझ में आ सकता है जो यहाँ पर भाव-व्यंजना में सहायक है।

> **"हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा;**
> **हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल-रेखा।"**—कामायनी

अत्युक्ति का प्रयोग

> **"सोई साजन आविया, जाँकी जोती बांट।**
> **थाँभा नाचै, घर हँसे, खेलन लागी खाट॥"**

अर्थात् जिनकी मैं बाट देख रही थी, वे ही प्रियतम आ गये ! प्रसन्नता के मारे स्तम्भ नृत्य करने लगे, घर हँसने लगा और चारपाई भी खुशी से

---

१. राजस्थान रा दूहा, पृ० १५० (संपादक प्रो० नरोत्तमदास स्वामी)।

उछलकर क्रीड़ा करने लगी (चारपाई का भी आज प्रियतम के आने पर भाग्योदय हो गया)!! कितनी मार्मिकता से नायिका के हर्षातिरेक की व्यंजना इस दोहे में हुई है। अत्युक्ति कृत्रिम न होकर यहाँ भाव-व्यंजना में सहायता पहुँचा रही है।

उपमा और रूपक के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। 'द्वापर' में 'अहा! गोपियों की वह गोष्ठी!' वाले प्रसङ्ग में कवि उपमाओं की बौछार-सी करता गया है। रूपक के आधार पर किये गये लाक्षणिक प्रयोग तो क्या बोल-चाल और क्या साहित्य—दोनों में बहुत प्रचलित हैं।

व्याकरण की अवहेलना—भाव की तन्मयता के कारण कवि व्याकरण की अवहेलना भी करते देखे गये हैं—

(१) **"अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जयनाद;**
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि, बन कर मानो दीन विषाद"। —प्रसाद

(२) **"अरे एक मन, रोकथाम तुझे मैंने लिया,**
दो नयनों ने शोक, भरम खो दिया, रो दिया!" —मैथिलीशरण गुप्त

उर्मिला की उक्ति है कि मैं प्रेम-रहस्य को गुप्त रखना चाहती थी। मन को तो मैंने किसी तरह से रोकथाम लिया, मन के रहस्य को अब तक मन में ही छिपाये रही किन्तु हा! इन आँखों ने सब रहस्य खोलकर भरम खो दिया। उक्त पद्य में 'रो दिया' का प्रयोग चिन्त्य है। 'रो दिया' अकर्मक क्रिया के साथ 'नयनों ने' का प्रयोग कैसे व्याकरण सम्मत कहा जा सकता है?

ध्वन्यालोक, लोचन और अभिनव-भारती में अलंकारों के प्रयोग सम्बन्धी बहुत से नियम इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। आनन्दवर्धन ने शृंगार, विप्रलम्भ और करुण के वर्णन में यमक, शब्द भंग-श्लेष आदि को त्याज्य ठहराया है। इस प्रकार के नियम मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित हैं।[1] अलंकारों के

---

१. इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह मालूम देता है कि इन अलंकारों में शाब्दिक चमत्कार का प्राधान्य है और इनमें भावावेश भी अधिक होता है। भावावेश के समय शब्दों की द्व्यर्थकता और विशेषता जहाँ पर कि श्लेष शब्दों की तोड़-मरोड़ पर निर्भर हो, बाधक होता है।

— बाबू गुलाबराय

दुरुपयोग से भी मन ऊबने लगता है। मैं तो तुलसी जैसे सिद्धहस्त कवि के भी लम्बे-लम्बे रूपकों से बहुधा ऊब जाता हूँ। अलंकारों में मनोवैज्ञानिक अध्ययन और व्याख्या के लिए प्रचुर सामग्री संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रकाश में भी—जब मैं कभी-कभी 'अभिनव-भारती' आदि पर विचार करता हूँ तो मुझे लगता है जैसे आज का ही कोई स्वस्थ-दृष्टि समालोचक लिख रहा हो, और उच्च कोटि के इन भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों पर मन ही मन गौरव का अनुभव करता हूँ।

: ३ :

स्वभावोक्ति का अलंकारत्व

["स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह है कि वह अलंकार्य माना जावे या अलंकार । आचार्य शुक्लजी ने इसको रस का रूप देकर अलंकार्य ही माना है । विद्वान् लेखक ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत दिये हैं । इस मूल समस्या का हल इसलिए और भी कठिन है कि अलंकार्य और अलंकार के सम्बन्ध में आचार्यों का मतैक्य नहीं है । कुन्तक, महिम भट्ट आदि प्राचीन आचार्यों के मत-वैभिन्य को सामने रखते हुए, लेखक इस पक्ष में है कि स्वभावोक्ति अलंकार है । जहाँ तक अलंकार की सार्थकता है वह स्वाभाविक वस्तु को अपने उपकरणों से अलंकृत कर सकता है । स्वभाव को अलंकार नहीं बनाया जा सकता । ऐसा होने पर स्वभावोक्ति का महत्त्व ही नहीं रह जाता । हम सहलजी का दृष्टिकोण साहित्य-संसार के समक्ष रखते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—प्रसन्नता का अनुभव इसलिए कि उनके दृष्टि-कोण पर और भी 'दृष्टिकोण' सम्मुख आ सकते हैं । स्वभाव शब्द से जिस ध्वनि का भास होता है वह अलंकार की कृत्रिमता की ध्वनि से सर्वथा भिन्नता रखती है । कुन्तक ने तथा वर्तमान काल में आचार्य शुक्ल ने ऐसी विचारधारा के आधार पर स्वभावोक्ति का खंडन किया । वक्रोक्तिकार स्वभावोक्ति को अलंकार मान भी कैसे सकते थे ? यद्यपि हम भी अलंकार्य वस्तुओं को अलंकार बनाने के पक्ष में नहीं हैं तथापि जिस प्रकार सरलता और सादगी भी एक प्रकार अलंकार हो जाता है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति भी एक अलंकार हो सकता है । प्रत्येक स्वभाव की उक्ति अलंकार न होगी वरन् स्वभाव ही जहाँ चमत्कार हो जाय वहीं उसको अलंकार कहना सार्थक हो जाता है, यह दूसरा मत है ।

"यद्यपि अलंकार बाहर की वस्तु नहीं है जो अलंकार्य पर जड़ी जा सकती है तथापि उनमें विचार का भेद अवश्य है । अलंकार के व्यापक अर्थ में जिस

अर्थ में वामन ने माना है (सौन्दर्यमलंकारः) स्वभावोक्ति अलंकार है ही, किन्तु साधारण अर्थ में भी जिसको स्वभावोक्ति कहते हैं उसमें साधारण उक्ति से कुछ अधिक चमत्कार होता है। सरलता में भी विशेष सौन्दर्य होता है। इस अर्थ में भी वह अलंकार है। स्वभावोक्ति में अलंकार और अलंकार्य एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाते हैं, फिर दृष्टिकोण का भेद रह जाता है। वस्तु और भाव की दृष्टि से उसे रस के अन्तर्गत समझ सकते हैं और शोभा और चमत्कार की दृष्टि से उसे अलंकार कह सकते हैं।"

—बाबू गुलाबराय]

एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य मूक कवि होता है क्योंकि कौन ऐसा है जिसके हृदय में भावों का संघर्ष नहीं चलता ? कौन ऐसा है जो जीवन की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से प्रभावित नही होता ? यह अवश्य है कि कवि में अपेक्षाकृत भावप्रवणता अधिक होती है तथा उसकी चेतना भी सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जागरूक रहती है किन्तु केवल भाव-प्रवणता और चेतना से ही तो कोई कवि नहीं कहला सकता। जब तक किसी में अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं तब तक काव्य-निर्माण नहीं हो सकता।[1] जो वस्तु जैसी है उसका यदि वैसे ही पद्य-बद्ध वर्णन कर दिया जाय तो वह पद्य काव्य का रूप नहीं धारण कर सकता। 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा शोभित हो रहा है, पक्षी घोंसले में जा रहे हैं' इस प्रकार का वर्णन क्या काव्य कहला सकेगा ? इसे तो वार्ता कहते हैं।[2] अथवा 'गौ की सन्तान वह बैल मुख से तृण चर रहा है' इस पंक्ति को यदि श्लोक-बद्ध कर दिया जाय तो क्या वह काव्य हो जायगी ? 'उठो भाइयो ! नींद को त्याग दो ! जगो, जाल आलस्य का तोड़ दो !' जैसी पंक्तियाँ भी वार्ता अथवा इतिवृत्त मात्र के उदाहरण—स्वरूप रखी जा सकती हैं किन्तु कवि का काम केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना अथवा[3] वार्ता कहना नहीं है। श्री नीलकण्ठ दीक्षित ने शिव-लीलार्णव में क्या ही सच कहा है—

---

१. नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना। —भट्टतौत

२. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यम् ? वार्तामेनाम् प्रचक्षते॥

३. गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।

"यानेव शब्दान्वयमालपामः यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति ।।"

अर्थात् जिन शब्दों का हम उच्चारण करते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं—कवि, विन्यास-विशेष के कारण भव्य प्रतीत होने वाले उन्हीं शब्दार्थों द्वारा जगत् को मोहित कर लेते हैं। इसीलिए भामह ने वक्रोक्ति पर जोर दिया। उसके मतानुसार वक्रोक्ति के बिनाअ लंकारत्व हो नहीं सकता।

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो, विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोनऽया बिना ।।"

—काव्यालंकार

भामह की इस उक्ति से प्रभावित होकर कुन्तक ने तो 'वक्रोक्तिजीवित' ही लिख डाला और आगे चलकर रुय्यक ने वक्रोक्ति की कसौटी पर ही प्रत्येक अलंकार के तारतम्य का विश्लेषण किया। भट्टनायक ने भी शास्त्र को शब्द-प्रधान, इतिहास को अर्थ-प्रधान और काव्य को व्यापार-प्रधान माना है। महिमभट्ट ने काव्य को उभय-प्रधान कहा है। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में भट्टनायक के व्यापार और भामह की वक्रोक्ति दोनों को प्रायः समान ही माना है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर भी कहते हैं, 'उक्ति-विशेष ही काव्य है, भाषा कोई भी क्यों न हो ?'[१]

प्रश्न यह है कि क्या स्वभावोक्ति में उक्ति-वैचित्र्य नहीं ? क्या स्वभावोक्ति अलंकार नहीं ? स्वभावोक्ति का जिन्होंने विशेष विवेचन किया है उनमें कुन्तक और महिमभट्ट का नाम प्रमुख है। कुन्तक जहाँ स्वभावोक्ति का अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते, वहाँ महिमभट्ट इसका जोरदार समर्थन करते हैं। कुन्तक के मतानुसार वर्ण्य-विषय में अलंकारत्व नहीं रह सकता, स्वभावोक्ति तो वर्ण्य-विषय है, वह तो काव्य का शरीर है और अगर इसे ही अलंकार मान लिया जाय तो अलंकार फिर अलंकार को ही अलंकृत करेगा ? जैसे कोई अपने ही कन्धों पर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार इस प्रकार की स्थिति भी असम्भव हो जायगी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी कुन्तक की भाँति स्वभावोक्ति का अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में

१. उक्तिविशेषः काव्यम् भाषा या भवतु सा भवतु।

'रीति-ग्रन्थों' की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिये गये और कुछ भाव क्षेत्र से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिये गये। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया—जैसे लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गण्ड-स्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रतिभाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का वर्णन हो तो क्या वह अलंकार मात्र होगा ? प्रस्तुत वर्ण्य-विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों में से है, उसकी शोभामात्र बढ़ाने वाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ जिसके अन्तर्गत चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तुनिर्देश अलंकार का काम नहीं। सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है, और इसी से उसका ठीक-ठीक लक्षण भी स्थिर नहीं हो सका है।" आचार्य शुक्ल तथा कुन्तक की उपपत्तियों में बहुत कुछ साम्य है किन्तु शुक्ल जहाँ स्वभावोक्ति को रस के संयोजकों में शामिल करते हैं, वहाँ कुन्तक उसकी गणना वस्तु-वक्रता में करते हैं। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के विरुद्ध कुंतक की दो प्रमुख आपत्तियाँ हैं—(१) अगर वस्तु-स्वभाव स्वयं ही अलंकार है तो यह अलंकृत किसे करेगा ? (२) अगर वस्तु—स्वभाव स्वतः एक भिन्न अलंकार है तो फिर हर एक दूसरे अलंकार में संकर तथा संसृष्टि की कल्पना करनी होगी। अपने 'व्यक्ति-विवेक' के दूसरे विमर्श में महिमभट्ट ने काव्य के पाँच दोषों का उल्लेख किया है। अन्तिम दोष का उल्लेख करते हुए उसने 'अवाच्यवचन' की चर्चा की है। निरर्थक विशेषणों का प्रयोग, शुष्कसामान्य (commonplace) वर्णन आदि के कारण 'अवाच्यवचन' दोष आ जायगा। इन्हें वह 'अप्रतिभोद्भव' कहता है। इसी प्रसंग में उसने स्वभावोक्ति का विवेचन किया है। अगर वस्तु-स्वभाव-वर्णन में निर्जीव और सर्वसाधारण वस्तुओं का ही समावेश हुआ तो 'अवाच्यवचन' दोष के कारण वहाँ अलंकारत्व नहीं समझा जायगा। यही कारण है कि स्वभावोक्ति-वर्णन में बाण ने 'अग्राम्यत्व' और रुद्रट ने 'पुष्टार्थत्व' की शर्त रखी है। सच्ची स्वभावोक्ति के लिए कवि-दृष्टि अपेक्षित होती है। वस्तु का

सामान्य वर्णन तो सभी कर लेते हैं किन्तु वस्तु का कल्पना-गोचर विशिष्ट रूप प्रतिभासंम्पन्न कवि ही इस तरह उपस्थित करता है कि वह वस्तु प्रत्यक्षवत् हो जाती है। "मैया मोही दाऊ बहुत खिझायो" अथवा "मैया मैं नहीं माखन खायो" सूर के इन सुप्रसिद्ध पदों में आचार्य शुक्ल जैसे सहृदय समालोचक स्वभावोक्ति जैसा कोई अलंकार नहीं मानते ; रस के संयोजकों में इनकी गणना कर वे इस प्रकार के पदों को अलंकार के निम्न क्षेत्र से उठाकर रस की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि स्वाभावोक्ति का अलंकारत्व विवादास्पद है किन्तु दोनों ही पक्ष वाले स्वभावोक्ति के चारुत्व को स्वीकार करते हैं। बाण के हर्षचरित से एक उदाहरण लीजिये—

> **"पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै**
> **रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय**
> **घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरंगो**
> **मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥"**

इसमें उस घोड़े का वर्णन है जो अभी रात की नींद से जगा है और जो मन्द-मन्द हिनहिनाता हुआ जमीन को खुर से खूँद रहा है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में घोड़े की उन चेष्टाओं का उल्लेख हुआ है जो वह आलस्य दूर करने के लिए कर रहा है। उसने पहले-पहल अपनी पिछली टाँगों को फैलाया, तब उसने अपने शरीर को इस प्रकार लंबायमान किया कि उसकी पीठ की हड्डी पहले कुछ झुकी और फिर फैल गई। इसके बाद उसने अपनी गर्दन को कुछ टेढ़ा किया, मुँह को छाती की ओर ले गया, धूलि-धूसरित अयाल को हिलाया। ऐसा करने से उसकी सुस्ती जाती रही। उसको भूख महसूस होने लगी तो घास के ग्रास खाने की अभिलाषा से वह अपने नथुनों को बजाता हुआ हिलाने लगा। प्रातःकाल जगे हुए घोड़े की चेष्टाओं का यह बहुत ही उत्कृष्ट वर्णन है। जिन्होंने घोड़े की इन हरकतों को ध्यान से देखा है वे अवश्य ही इस वर्णन की प्रशंसा करेंगे। यहाँ पर यथावत् वस्तु-वर्णन में भी एक प्रकार का सौन्दर्य है जिसके कारण मम्मट जैसे वाग्देवतावतार आचार्य ने भी इस पद्य में स्वभावोक्ति अलंकार की सत्ता स्वीकार की है।

स्वभावोक्ति वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण अलंकार है। कवि में दो प्रकार की शक्तियाँ मुख्यतः पायी जाती हैं—(१) निरीक्षण और अभिव्यक्ति और (२) कल्पना-शक्ति। स्वभावोक्ति अलंकार में कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति की परीक्षा हो जाती है। सामान्य मनुष्य की अपेक्षा कवि कहीं अधिक देखता है, भगवान् शिव की तरह मानो उसे तीसरा नेत्र भी मिला हुआ है जिसका वह समय-समय पर प्रयोग करता रहता है। संसार की वस्तुएँ अस्त-व्यस्त फैली रहती हैं, कवि अपने ध्यान को एक तरफ केन्द्रित कर किसी वस्तु को छाँटकर हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित कर देता है कि हम उसे प्रत्यक्ष-वत् देखने लगते हैं। संसार की विविधतामयी जटिलताओं में किसी सामान्य वस्तु की भी सूक्ष्म विशेषताओं की ओर हम साधारण मनुष्यों का ध्यान जाता ही नहीं किन्तु जब कवि की आँख से हम उसे देखते हैं तो प्रत्यभिज्ञा के आनन्द से हम प्रफुल्लित हो उठते हैं। इस दृष्टि से देखने पर स्वभावोक्ति अलंकार का महत्त्व सहज ही समझ में आ सकता है। बिखरी हुई वस्तुओं में से कुछ विशेष चेष्टाओं वाली वस्तुओं को एक स्थान पर प्रदर्शित करने में जो सौन्दर्य है, वही सौन्दर्य स्वभावोक्ति अलंकार में भी है। यह तो सच है कि कोई वस्तुविशेष स्वतः अपने आपको अलंकृत नहीं कर सकती किन्तु किसी वस्तु के विभिन्न अंगों को उसकी विशेषताओं का ध्यान रखते हुए एकत्र उपस्थित कर दिया जाय तो विशृंखलित जटिलता के स्थान में संश्लिष्ट सौन्दर्य की सृष्टि अपने आप हो जाती है। 'उसने कहा था' के प्रथम परिच्छेद के सौन्दर्य का यही रहस्य है। "दो टूक कलेजे के करता—पछताता पथ पर आता। पेट-पीठ दोनों मिल कर हैं एक—चल रहा लकुटिया टेक। मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।" भिक्षुक के इस चित्र के सौन्दर्य का कारण भी संश्लेषण ही है। सभी अलंकारों के लिए सौन्दर्य अपेक्षित है, अन्य अलंकारों में वह वक्रोक्ति पर आश्रित रहता है, स्वभावोक्ति में वस्तु के सुन्दर यथावत् वर्णन पर, जो सम्यक् निरीक्षण के बिना सम्भव नहीं। निरीक्षण यदि भावना से अनुप्राणित हो तो स्वभावोक्त किसी रस के आलंबन का रूप धारण कर सकती है किन्तु प्रत्येक स्वभावोक्ति के लिए रस से अनुप्राणित होना क्या अनिवार्य है ? शुद्ध संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन का भी स्वभावोक्ति में समावेश किया जा सकता है, यद्यपि संस्कृत आलंकारिकों ने

इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

स्वभावोक्ति का तारतम्य

स्वभावोक्ति अन्वर्थ शब्द है। केवल षष्ठी तत्पुरुष ही नहीं, इसमें तृतीय तत्पुरुष तथा मध्यमपदलोपी समास मान कर भी आचार्यों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति की है।[1] और मध्यमपदलोपी समास तो कर्मधारय के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वभावोक्ति के तीन अर्थ हुए—(१) बच्चों आदि के स्वभाव की उक्ति, (२) अकृत्रिम रूप से वस्तु-कथन, और (३) स्वभावरूपा अथवा स्वाभाविक उक्ति। दूसरे और तीसरे अर्थ में कोई मौलिक भेद नहीं है।

स्वभावोक्ति का पुराना नाम है जाति। जन् धातु के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को लेकर जिससे 'जाति' शब्द निष्पन्न हुआ है, वस्तुओं के सहजात गुण-वर्णन के कारण सम्भवतः जाति शब्द प्रचलित हुआ हो अथवा वस्तुओं की जातिगत विशेषताओं का वर्णन इसमें होता है, इसलिए इसका नाम 'जाति' पड़ गया हो। दण्डी ने तो जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया—चार प्रकार की स्वभावोक्ति का उदाहरण जो दिया है, उसमें उनकी दृष्टि शुकों की जाति-गत विशेषताओ की ओर ही रही है—

> **"तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः।**
> **त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैः एते मंजुगिरः शुकाः॥"**

अग्निपुराण में स्वभावोक्ति को 'स्वरूप' के नाम से अभिहित किया गया है। काव्य-प्रकाशकार ने भी अपनी परिभाषा में शायद जानबूझ कर ही स्वभावोक्ति के नामान्तर (स्व-रूप) का समावेश किया है।

> **"स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेःस्य क्रियारूपवर्णनम्"**

'स्व' शब्द यहाँ साभिप्राय है। स्वभावोक्ति में जिन वस्तुओं के रूप का वर्णन होता है, वह उन्हीं वस्तुओं का विशिष्ट रूप होता है क्योंकि स्वभाव

---

१. अत्र डिम्भादीनां स्वभावस्य उक्तिः वर्णनमस्ति इति अन्वर्थाभिधानमलंकारस्य (षष्ठी तत्पुरुषः) अथवा स्वभावेन अकृत्रिमप्रकारेण यथातथ्येन उक्तिः वर्णनमात्र इति स्वभावोक्तिः (तृतीया तत्पुरुषः) अथवा स्वभावरूपा उक्तिः स्वाभावोक्तिः (मध्यम पद लोपी उक्तिः समास)।

अथवा स्वरूप अपना निजी होता है, किसी से उधार नहीं लिया जाता। इस बात को समझ लेने पर भामह द्वारा किये गये 'स्वभाव की सार्थकता भी सहज हीं सिद्ध हो जाती है। भोज ने भी 'सरस्वतीकंठाभरण में जाति की परिभाषा देते हुए इस बात पर जोर दिया है।

"नानावस्थासु जायंते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानि जाति प्रचक्षते ॥"

इस प्रकार स्वभावोक्ति के तीनों ही नामान्तर (जाति, स्वरूप और स्वभाव) इस अलंकार के तथ्य को हृदयंगम कराने में सहायक होते हैं। यही इनके नामकरण का रहस्य है।

स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्' (शास्त्रों में तो इसका साम्राज्य है ही) कहकर आचार्य दण्डी ने अपरिपक्व पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। स्वयं दण्डी के ही शब्दों में 'स्वाभावोक्ति पदार्थों के नानावस्था वाले रूपों को साक्षात् खोलकर रख देती है।[1] दण्डी ने स्वभावोक्ति की जो परिभाषा दी है अथवा अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति का जो लक्षण स्थिर किया है, उसका साम्राज्य निश्चय ही शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र केवल अर्थग्रहण करवाकर अपने व्यापार से छुट्टी पा लेता है किन्तु काव्य में केवल अर्थग्रहण से काम नहीं चलता, वहाँ बिम्बग्रहण अपेक्षित है। दण्डी ने वार्ता और स्वभावोक्ति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करके विचार-विभ्रम उपस्थित कर दिया है। आचार्यों के विवेचन में भी जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव हो उसकी ओर निर्देश करना भी आवश्यक है, यद्यपि व्युत्पन्न पाठक के लिए आपाततः असंगत प्रतीत होती हुई उक्तियों में भी संगति बिठला लेना कोई मुश्किल कार्य नहीं। वार्ता और स्वभावोक्ति के अन्तर को यदि दृष्टि में रखा जाय तो सहज ही विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। 'भयभीत होकर हरिण दौड़ रहा है' यह तो वार्ता-कथन मात्र हुआ किन्तु कविकुलगुरु ने स्वभावोक्ति द्वारा इसी का क्या ही सुन्दर बिम्बग्रहण करवाया है—'सुन्दर लगने वाला हरिण बार-बार पीछे मुड़ कर उस रथ को एकटक देखता जाता

---

१. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती – दन्डिन्।

है; बाण लगने के डर से अपने पिछले आधे शरीर को सिकोड़कर आगे के भाग से मिलाता हुआ दौड़ता जा रहा है। थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती जा रही है और यह इतनी लम्बी छलाँगें भर रहा है कि इसके पाँव पृथ्वी पर पड़ते हुए उतने नहीं दिखलाई देते जितना यह आसमान में उड़ता हुआ जान पड़ता है।" इस वर्णन को पढ़कर भयभीत होकर भागते हुए हरिण का चित्र हमारी आँखों के सामने आ उपस्थित होता है। इसे ही बिम्बग्रहण कहते हैं जो कवियों का लक्ष्य है। शास्त्र इस प्रकार के व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता।

स्वाभावोक्ति का सौन्दर्य कवि की पर्यवेक्षण शक्ति पर निर्भर है। यह सच है कि कवि में कल्पना, पर्यवेक्षण और अभिव्यक्ति तीनों ही आवश्यक हैं किन्तु सभी कवियों में ये तीनों शक्तियाँ एक परिमाण में नहीं मिलतीं। कुछ कवियों के काव्यों में कल्पना तथा अभिव्यक्ति का वैचित्र्य विशेष है तो अन्य कवियों के काव्यों में पर्यवेक्षण का वैचित्र्य देखने को मिलता है। किसी कवि को कल्पना-प्रधान तथा किसी को अनुभूति-प्रधान कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कल्पना-प्रधान कवि में अनुभूति का एकान्त अभाव है अथवा अनुभूति-प्रधान कवि में कल्पना का किंचित् भी अस्तित्व नहीं है। "प्राधान्येनव्यपदेशा-भवन्ति" यह सिद्धान्त तो बहुश्रुत है। स्वभावोक्ति में भी निरीक्षण की प्रधानता का यह अर्थ नहीं है कि अन्य काव्यांगों में निरीक्षण नितान्त अप्रयोज्य है किन्तु स्वभावोक्ति की सफलता निरीक्षण की कसौटी पर ही परखी जा सकती है, इस सम्बन्ध में दो मत न होंगे।

यहाँ अलंकार के स्वरूप पर भी विचार कर लेना अवांछनीय न होगा। शरीर को जब आभूषणों से अलंकृत किया जाता है अथवा साड़ी पर जब बेल-बूटे का काम किया जाता है तो शरीर और साड़ी अलंकार्य हैं, आभूषण और बेल-बूटे का काम है अलंकार। यदि शोभा के बाह्य उपकरणों का नाम अलंकार है तो स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वभावोक्ति में बाह्य अथवा अप्रस्तुत का प्रश्न ही नहीं उठता। रूपक का विवेचन करते हुए अरस्तू ने भी इस अलंकार में आनुषंगिकता के उपादान के कारण ही आनन्द की सत्ता स्वीकार की है।[1] कुन्तक के मत में शब्द और अर्थ

1. Aesthetics by Croce, p. 427.

अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति है अलंकार।[1] इस सेजान पड़ता है कि कुन्तक आचार्यों द्वारा परिगणित अलंकारों तक ही अपने 'अलंकार' को सीमित नहीं रखते, उनका अलंकार सौन्दर्य के सभी उपकरणों को अपनी परिधि में समाविष्ट किये हुए है। कुन्तक की दृष्टि में कविकर्म का ही दूसरा नाम काव्य है और बिना वक्रोक्ति के कवि-व्यापार निष्पन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विवेचना करने पर वक्रोक्ति के क्षेत्र की व्यापकता आसानी से समझ में आ सकती है। एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक जान पड़ता है। व्यवहार में यह कभी देखने में नहीं आता कि काव्य पहले लिख दिया जाय और अलंकार बाद में सजा दिये जायँ। होम (Home) ने कहा है कि भावावेश की अवस्था में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक है। Blair[2] का कथन है कि कल्पना और भावावेश द्वारा निर्दिष्ट वाणी अलंकृत रूप धारण कर लेती है।

प्रश्न यह है कि स्वभावोक्ति में जो सौन्दर्य है क्या कुंतक की सूक्ष्म दृष्टि उसकी ओर से पराङ्मुख रही? दूसरे अलंकारिकों ने जिन पद्यों में स्वभावोक्ति अलंकार माना है, कुन्तक उन्हीं पद्यों में वस्तु-वक्रता स्वीकार करते हैं। तो क्या कारण है कि इस वक्रता को अलंकार का नाम न दिया जाय? हो सकता है कि वक्रोक्ति के अन्य प्रकारों की तरह वस्तु-वक्रता में इतना सौन्दर्य न हो किन्तु फिर भी यह वक्रता है, इसलिए इसमें सौन्दर्य अथवा अलंकार की सत्ता अवश्य स्वीकार करनी होगी। अपने 'वक्रोक्ति-जीवित' में कुन्तक इस समस्या का इस प्रकार समाधान कर रहे हैं—

"यदि वा प्रस्तुतौचित्यमहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वात् अलंकार्योऽपि अलंकरणमित्यभिधीयते, तदयमस्माकीन एव पक्षः।"

सामान्यतया अलंकार्य अलंकार नहीं बन सकता किन्तु किसी में यदि स्वाभाविक सुन्दरता इतनी हो कि दूसरे अलंकार को वह सहन ही न कर

---

१. उभौ एतौ अलंकार्यो। तयोः पुनरलंकृतिर्वक्रोक्तिरेव।

2. Figures consist in the passional element.
Language suggested by imagination of passion. (Blair)

सके और ऐसे अवसर पर यदि अलंकार्य ही अलंकार बन जाय (स्वभावोक्ति हा अलंकार कहलाने लगे) तो कुंतक कहते हैं, यह तो हमारे पक्ष का समर्थन हुआ। क्योंकि कुंतक की दृष्टि में तो जैसा ऊपर कहा है, वक्रता या सौन्दर्य को ही अलंकार माना है। वामन ने तो "सौन्दर्यमलंकार:" कहकर अलंकार की परिधि को बहुत कुछ विस्तृत कर दिया है। कुंतक से तो इस प्रकार स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में समझौता किया भी जा सकता है किन्तु आचार्य शुक्ल किसी भी प्रकार स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं थे। वे रस को ही स्वभावोक्ति का प्रकृत क्षेत्र मानते थे। भोज भी स्वाभाविक वर्णन का जब रस से सम्बन्ध हो तब उसे रसोक्ति का नाम देते हैं किन्तु किसी अन्य वस्तु अथवा प्रकृति का जहाँ सुन्दर यथावत् वर्णन हो वहाँ वे स्वभावोक्ति ही स्वीकार करते हैं।

एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है। छायावादी कवियों ने अपनी भावनाओं का आरोप करके प्रायः प्रकृति का वर्णन किया है। ऐसे वर्णन भावानुप्राणित माने जा सकते हैं किन्तु अपनी भावनाओं का आरोप न करके विशुद्ध प्रकृति-वर्णन द्वारा जहाँ बिम्बग्रहण करवाया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार माना जाय या कोई रस-विशेष ? भोज का मत ऊपर दिया जा चुका है और आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत है। ऐसी स्थिति में कवि या पाठक को ही आश्रय मानकर क्या रस के अन्य संयोजकों की कल्पना करके ऐसे वर्णनों को अलंकार के क्षेत्र से हटाकर रस के क्षेत्र में घसीट लिया जाय अथवा प्रकृति का सुन्दर चित्रण करने वाले ऐसे स्थलों को स्वभावोक्ति में शामिल कर लिया जाय ? इस विषय में विद्वानों द्वारा विवेचन वांछनीय है।

: ४ :

साधारणीकरण और रसास्वाद के विघ्न

अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथम अंक की कहानी एक वाक्य में कही जा सकती है। किन्तु कविकुलगुरु ने तपोवन की सुषमा, पुष्पभारावनत लताओं तथा कुंजों का सौन्दर्य, शकुन्तला द्वारा पौधों की सिंचाई, सहेलियों का वार्तालाप, शकुन्तला की निसर्ग-सुन्दर रमणीय आकृति आदि विभावगत वर्णन के साथ-साथ नायिका की लज्जाशीलता, उसके कटाक्षादि अनुभावों तथा औत्सुक्य आदि संचारी भावों के चित्रण द्वारा जो रस की मंदाकिनी प्रवाहित की है, वह किसी भी प्रकार के एक वाक्य मात्र से कब संभव थी? कविता वस्तुतः इतिवृत्त नहीं है; काव्य में वातावरण का चित्रण अपेक्षित होता है। किन्हीं मनोविज्ञान की पुस्तकों में प्रेम का विस्तृत विश्लेषण पढ़ लेने पर भी रसोद्-बोध नहीं हो सकता। काव्य, अर्थ-ग्रहण मात्र करवा कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने वाला बुद्धि का व्यापार नहीं है, काव्यगत रसास्वादन तो बिम्बग्रहण आदि से ही होता है। केवल शृंगाररस का नाम लेने से रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। जब आप यह कहते हैं कि इस कविता के पढ़ने में मुझे बड़ा आनन्द आया तो जरा विश्लेषण करके देखिये तो ज्ञात होगा कि कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा शब्द-शिल्प का आश्रय ले ऐसा रूप-विधान आपके सामने उपस्थित किया जिसने आपको तन्मयता की स्थिति में लाकर रस-मग्न कर दिया।[1] नाट्य-शास्त्र के प्रसिद्ध सूत्र में भी जहाँ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त उपस्थित किया गया है, प्रकारान्तर से यही बात कही गई है। विभावादिकों में जहाँ

---

1. When the writer does wish to arouse emotion, how can he do it? Not by talking about the emotion, not even by feeling it himself: he must show us the objects that excite the emotion.

—*C. T. Winchester.*

केवल विभाव अथवा केवल अनुभावादि के वर्णन में रस मिलता है, वहाँ रस के अन्य अवयवों का अध्याहार अथवा आक्षेप कर लेना पड़ता है।

भरत मुनि के उक्त सूत्र से रस-सिद्धान्त का पूरा स्पष्टीकरण न हो सका, इसलिए परवर्ती अनेक व्याख्याताओं ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस सूत्र की विविध व्याख्याएँ उपस्थित कीं जिनमें से भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त, इन चार व्याख्याताओं के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। भट्ट लोल्लट ने मूल पात्र दुष्यन्तादि में रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हुए यह बतलाया कि अभिनेता के रूप-रंग, वेशभूषा, कार्य-कलाप आदि को देख कर दर्शक उस पर दुष्यन्तादि का आरोप कर लेने के कारण चमत्कृत हो जाते हैं। यह मत उत्पत्तिवाद के नाम से प्रचलित हुआ। आचार्य शंकुक का मत, जिन्होंने यह प्रतिपादित किया कि रस की स्थिति तो मूल पात्र में ही पाई जाती है, अनुमान से दर्शक अभिनेता को दुष्यन्तादि मानकर चमत्कारपूर्वक आनन्दित हो जाते हैं, अनुमितिवाद कहलाया। रस सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टनायक ने (जो साधारणीकरण सिद्धान्त के उद्‌भाविक भी हैं) इन दोनों व्याख्याताओं के मत को सदोष सिद्ध किया। भट्ट लोल्लट और शंकुक का मत "ताटस्थ्य और आत्मगतत्व" नामक दोषों से दूषित था। उक्त दोनों व्याख्याताओं के मतानुसार दर्शक पात्र के भावों को दूसरों के भाव समझता है। यह भी बड़ी बेतुकी बात है कि रस उत्पन्न तो होता है अनुकार्य (दुष्यन्त आदि) में और उसका उपभोग करता है दर्शक। इससे जहाँ सामानाधिकरण्य के सिद्धान्त में बाधा पहुँचती है, वहाँ दूसरी ओर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि दर्शक पात्र के भावों को दूसरों के भाव समझता है तो उसे क्या पड़ी है जो वह इसमें दिलचस्पी ले? वह ऐसी हालत में तटस्थ हो जायेगा। फिर यदि दर्शक पात्र के स्थान में अपने को समझने लग जाय तब भी रस की सम्यक् प्रतीति नहीं होगी क्योंकि दर्शकों के सामने प्रेम-व्यापार-प्रदर्शन में लज्जा आदि स्वाभाविक ही है और जैसा भट्टनायक के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पंडितराज ने कहा है—"रस हमारे साथ सम्बन्ध रखता है यह प्रतीति भी नहीं ठहर सकती क्योंकि शकुन्तलादिक दर्शकों के तो विभाव हैं नहीं—वे उनके प्रेम आदि का तो आलम्बन हो नहीं सकतीं; क्योंकि सामाजिकों से शकुन्तला आदि का लेना-देना क्या? और बिना विभाव के आलम्बन

रहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती ; क्योंकि जिसे हम अपने: प्रेम-पात्र समझना चाहते हैं, उससे हमारा कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना चाहिए कि वह हमारा प्रेम-पात्र बन सके। आप कहेंगे कि स्त्री होने के कारण वे साधारण रूप से विभाव बनने की योग्यता रख सकती हैं। यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं, वे भी विभाव होने लगेंगी।"

भट्ट लोल्लट और शंकुक के मतों में एक बड़ी भारी त्रुटि यह भी थी कि उनसे करुण-रस में आनन्दानुभूति की समस्या का कोई हल नहीं मिलता, उल्टी उलझन और बढ़ जाती है। ऐतिहासिक पात्रों को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा था, उनका वर्णन पढ़-सुन कर अथवा देखकर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को दुःख की ही अनुभूति होनी चाहिए किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। भट्टनायक ने इस समस्या के समाधान का भी सफल प्रयत्न किया। नाटक में जहाँ शकुन्तला का उल्लेख किया जाता है वहाँ शब्द की अभिधा शक्ति से दुष्यन्त की स्त्री अथवा कण्व की दुहिता का ही बोध होता है किन्तु काव्य और नाटक में केवल अभिधा से ही काम नहीं चलता। इसलिए भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य शक्तियों की कल्पना की। यह सच है कि सहृदय पहले-पहल तो शकुन्तला को व्यक्ति-विशेष के रूप में ही देखता है किन्तु काव्य में कवि-कर्म-कौशल तथा नाटक में साज-सज्जा और अभिनय-सौष्ठव आदि के कारण पाठक या दर्शक जो कुछ वह पढ़ता है या देखता है उसी में आत्म-विभोर होकर बारम्बार उसी का ध्यान करने लगता है। इसे भावना कहा जाता है और जिस शक्ति के द्वारा यह व्यापार निष्पन्न होता है, उसे भट्टनायक ने भावकत्व के नाम से अभिहित किया है। इस भावकत्व के कारण शकुन्तला का शकुन्तलात्व नहीं रह जाता, वह मात्र नारी के रूप में ही दर्शक के सामने आती है। देश और काल का बन्धन भी उस समय लुप्त हो जाता है। विभावादिकों का सामान्य रूप में परिवर्तित हो जाना ही शास्त्रीय भाषा में 'साधारणीकरण' कहलाता है।[1] भट्टनायक का कथन है कि भावकत्व के अनन्तर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है जिसका नाम है

---

१. अभिनव-भारती, पृ० २७८, में भट्ट नायक के मत का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'निबिड़निजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातोद्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।'

भोजकत्व अर्थात् आस्वादन करना। इस क्रिया के प्रभाव से हमारे रजोगुण का लय हो जाता है और सतोगुण के आधिक्य से मन आलोकित हो उठता है, हृदय की संकीर्णता जाती रहती है, हमारी वृत्ति आनन्दाकार हो जाती है। आचार्य मम्मट के शब्दों में, "साधारण भाव के बल से उस समय के सब परिमित प्रमातृभाव विगलित हो जाते हैं। उससे एक ऐसे अपरिमित भाव का उन्मेष होता है, जिसमें और कोई वेद्यान्तर सम्पर्क टिक नहीं पाता।" योग के अभ्यास से जिस प्रकार सत्त्व की अधिकता प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण के विलीन हो जाने से मन एकाग्र हो जाता है। मन की इस एकाग्रता में दुःखात्मक वर्णन भी हमें रस-मग्न करने में समर्थ होते हैं। "रसात्मक बोध के विभिन्न रूप" में आचार्य शुक्ल ने भी यह प्रश्न उठाया है। "क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य-प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्दस्वरूप कहा गया है, अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर 'आनन्द' शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। करुण-रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं" केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।" किन्तु अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में रसों की आनन्दरूपता को ही स्वीकार किया है।[1]

भट्टनायक ने जिस प्रकार भरत के रस सूत्र की व्याख्या की है, उससे ताट-

---

१. "येन रजस्तमसोस्तिरस्कारः; आनन्दाकारावृत्तिः; विषयान्तरतिरस्कारश्च स व्यापारो भोजकत्वमिति बोध्यम्।"
—काव्यप्रदीपोद्योत, पृ० ६६

× × ×

अविश्रांतिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तिं वदभिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।
—अभिनव भारती, पृ० २८३

स्थ्य तथा आत्मगतत्व दोषों का भी परिहार हो जाता है। साधारणीकरण को समझाते हुए मम्मट भट्ट ने कहा है—ये सब भाव मेरे, शत्रु के अथवा तटस्थ किसी के हैं, या न मेरे, न मेरे शत्रु के और न तटस्थ किसी के हैं—यह समस्त संकीर्ण सम्बन्ध-विशेष स्वीकार अथवा परिहार यहाँ नहीं चलता। साहित्य-क्षेत्र में जो भाव होता है, वह साधारण-समस्त सम्बन्धातीत है।[1] साधारणीकरण की इस प्रकार व्याख्या करने पर तो ताटस्थ्य और आत्मगतत्व का प्रश्न ही उपस्थित नही हो सकता।

अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसके मतानुसार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वासना रूप से स्थायी भाव पाये जाते हैं। जब कोई सहृदय कोई कविता पढ़ता है या नाटक देखता है तो पहले तो वह काव्यगत अथवा नाटकीय पात्रों को व्यक्ति विशेष के रूप में ही देखता है किन्तु बाद में वह अपनी प्रौढ़ बुद्धि, नटादि सामग्री तथा कवि-कर्म-कौशल के कारण पात्रों को सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में ही देखने लगता है। अभिनव ने भावकत्व और भोजकत्व को अनावश्यक बतलाकर व्यंजना-वृत्ति से ही रस सूत्र की व्याख्या की है।

साधारणीकरण किसका होता है ? यह प्रश्न बहुधा उठाया जाता है। यह याद रखना चाहिए कि रस सूत्र की व्याख्या करते हुए ही भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना की थी, इसलिए संस्कृत आलंकारिकों के मतानुसार तो विभाव (जिसमें आश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन का समावेश किया जाता है), अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायीभाव सभी का साधारणीकरण होता है।

काव्य-प्रदीप में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

"तेन ही व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते।"

भट्टनायक के अनुसार इस सूत्र की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की जाती है—विभावानुभावव्यभिचारि संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ पर

---

१. ममैवैते शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्ध विशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसात् साधारण्येनप्रतीतैरभिव्यक्तः।

—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

संयोग शब्द का अर्थ है सम्यक् योग अर्थात् साधारणात्मना ज्ञानम् । "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभाव रूप उपाधि से युक्त सत्व गुण की वृद्धि से प्रकाशित, रस की निष्पत्ति अर्थात् आस्वादन होता है ।"

रस-दशा चित्त की एकाग्रता अथवा अभिनवगुप्त के शब्दों में संविद्वि-श्रान्ति की अवस्था है । रसास्वाद को 'वीतविघ्ना प्रतीतिः' के नाम से अभिहित किया गया है । यद्यपि रसानुभूति सम्बन्धी विघ्नों की इयत्ता निर्धारित करना सम्भव नहीं तथापि अभिनवगुप्त ने सात मुख्य विघ्नों की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित किया है, जिनका दिग्दर्शन मात्र नीचे किया जाता है ।

पहला विघ्न

कवि अथवा नाट्यकार कल्पना का आश्रय लेता है किन्तु उसकी कल्पना अवास्तविक न लगनी चाहिए । इन्दुमती अथवा रति-विलाप में कवि ने कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया है किन्तु वह हमें कितना मार्मिक और स्वाभाविक लगता है । इन्दुमती अथवा रति ने इस प्रकार का विलाप किया होगा या नहीं, इस प्रश्न पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता । काल्पनिक वर्णन भी यदि संभाव्य न जान पड़े तो हम कदापि रस-मग्न नहीं हो सकते । यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है । पत्थरों के पुल की सहायता से राम का समुद्र पार करना अथवा हनुमान का द्रोणागिरि पर्वत को उठाकर ले आना आदि अनेक ऐसे प्रसंग रामायण में आते हैं जिनकी संभावना पर बहुत से लोग प्रश्न उठाया करते हैं किन्तु यहाँ पर भी, यदि गहराई से देखा जाय, तो पाठकों की प्रतीति में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि पाठक जानते हैं कि राम और हनुमान असाधारण प्राणी हैं । अल्पावस्था में ही राम द्वारा धनुष-भंग और अनेक राक्षसों के वध का प्रसंग उनके सामने आ चुका है । अरिस्टाटल ने संभवतः इसीलिए कहा है—'The poet should prefer probable impossibilities to improbable possibilities.' राम आदि अलौकिक शक्तिसम्पन्न लोकनायकों की अपेक्षा में जब हम घटना-चक्र पर विचार करते

हैं तो असंभव घटनाएँ भी हमें संभाव्य लगने लग जाती हैं। कभी-कभी संभव घटनायें भी असंभाव्य लगती हैं, जिससे प्रतीति में बाधा पड़ने की संभावना रहती है। उदाहरण के लिए जहाँ पंचवटी में गुप्तजी ने सीता-लक्ष्मण का देवर-भाभी जैसा वार्तालाप करवाया है, वहाँ वह संभाव्य तो है किन्तु कुछ आलोचक लक्ष्मण के चरित्र को देखते हुए इसमें अनौचित्य के दर्शन करते हैं और इसे संभव नहीं मानते यद्यपि यह संभवनीय अवश्य है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका में इसी बात को सारगर्भित शब्दों में प्रकट किया है—

"एतदुक्तं भवति। यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृक् वर्णनीयम्।" (लोचन, पृ० १४५) स्वयं आनन्दवर्धन ने भी औचित्य का स्पष्टीकरण करते हुए अपने ध्वन्यालोक में (पृ० १४४-५२) इसका विस्तृत बिवेचन किया है। क्रोचे (Croce) ने भी अपने सौन्दर्य-शास्त्र में (पृ० ३२) संभावना-सिद्धान्त (The theory of the Probable) का वर्णन करते हुए इसी बात पर जोर दिया है। अभिनवगुप्त के शब्दों में रसास्वाद का पहला विघ्न है—"प्रतिप्रत्तावयोग्यता-संभावना-विरह।"

दूसरा विघ्न

अभिनेता शकुन्तला अथवा दुष्यन्त का अभिनय कर रहा है। यदि दर्शक पात्र के स्थान में अपने को समझने लग जाय तब भी रस की सम्यक् प्रतीति नहीं होगी। दर्शकों के सामने प्रेम-व्यापार प्रदर्शन में लज्जा आदि स्वाभाविक ही है। यदि दर्शक पात्र के भावों को दूसरों के समझता है तो उसे क्या पड़ी है जो वह इस कार्य में दिलचस्पी ले? वह ऐसी हालत में तटस्थ हो जायेगा। स्वगतत्व और ताटस्थ्य सम्बन्धी दोनों दोषों का निराकरण साधारणीकरण द्वारा हो जाता है। वस्तुतः देश, काल और व्यक्ति-विशेष की अनपेक्षा में ही सच्ची रसानुभूति संभव है। "स्वगतपरगतत्वनियमनदेश-काल विशेषावेशः"—यह है दूसरा विघ्न। इसका विशेष सम्बन्ध साधारणीकरण से है जिसकी विस्तृत चर्चा किसी अन्य लेख में की जायेगी।

तीसरा विघ्न

"निजसुखादिविवशीभावः।" यदि किसी को लाटरी में लाखों रुपए

मिल गये हों और उसी समय वह नाटक देखने जाय तो उसका चित्त नाटक देखने में न लगेगा अथवा यदि दर्शक अपने किसी वैयक्तिक दुःख से पीड़ित हो तब भी उसका दुःख रसास्वाद में बाधक होगा। नाटक में संगीतादि विविध मनोरम उपकरणों द्वारा इस विघ्न को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

चौथा और पाँचवाँ विघ्न

भावों की स्पष्ट और तात्कालिक अनुभूति के लिए नाटक में प्रसाधनों की पूर्णता आवश्यक है। स्फुटता के अभाव में भी रसास्वाद में बाधा उपस्थित होती है। भावानुभूति के लिए वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। सुनी हुई वस्तुओं की अपेक्षा देखी हुई वस्तुओं का स्थायी प्रभाव पड़ता है। अभिनय की विविधता (आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य आदि) द्वारा नाटक में इस प्रकार का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। किन्तु उत्कृष्ट कोटि के अभिनय द्वारा ही स्थायी भाव भली भाँति जागृत हो पाते हैं और आनन्द का अनुभव होता है। प्रतीत्युपायवैकल्प्य और स्फुटत्वाभाव हैं चौथा और पाँचवाँ विघ्न, जिनके निराकरण के लिए नाटक में अभिनय, नाट्यधर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का आश्रय लिया जाता है। (विशेष विवरण के लिए नाट्य-शास्त्र (भरत) का १२वाँ और २०वाँ अध्याय देखिये)।

छठा विघ्न

छठा विघ्न है अप्रधानता। मुख्य वस्तु है रसोत्पत्ति; विभावादि सब उस के अंगभूत हैं। गौण वस्तुओं के ज्ञान से हमारे मन की तृप्ति नहीं होती। आप विशेषणों पर विशेषण जड़ते चले जाइये किन्तु जब तक विशेष्य का नामोल्लेख नहीं करेंगे तब तक काम नहीं चलने का। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्थायी भावों को ही प्रधान क्यों माना जाय और संचारी भाव आदि की गौणता किस आधार पर स्वीकृत की जाय? इस के उत्तर में कहा जा सकता है कि स्थायी भाव कम-से-कम प्रच्छन्न अथवा सुप्त अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित हैं; व्यभिचारी भावों के लिए यह नहीं कहा जा सकता। ग्लानि, शंका आदि व्यभिचारी भाव सब मनुष्यों के हृदय में अथवा सब समय नहीं पाये जाते। निम्नलिखित दो वाक्यों को लीजिये—

१—यह मनुष्य ग्लान है ।

२—राम उत्साह और शक्तिसम्पन्न है ।

जब हम पहला वाक्य पढ़ते हैं तब स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि इस मनुष्य को क्यों और किस बात पर ग्लानि हो रही है किन्तु दूसरे वाक्य के विषय में इस तरह का कोई प्रश्न नहीं उठता । हम यह नहीं पूछना चाहते कि राम में उत्साह क्यों है । इससे ज्ञात होता है कि उत्साह तो हृदय का स्थायी भाव है, ग्लानि नहीं । व्यभिचारी भाव तो सहायक मात्र हैं, प्रधानता उन को नहीं दी जा सकती । किंकिणी-नाद सौन्दर्य-वृद्धि का कारण हो सकता है किन्तु उससे गौ पयस्विनी नहीं हो जाती । अभिनवगुप्त ने कहा है—

"रसध्वनिर्न यत्राऽस्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्
मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसंपदैः ?"

जब साधन ही साध्य बन जाता है तब अप्रधानता नामक विघ्न रस की प्रतीति में बाधा उपस्थित करता है ।

सातवाँ विघ्न

सातवाँ विघ्न संशययोग है । अश्रु आनन्द के भी हो सकते हैं और हर्ष के भी । जहाँ पर इस विषय में संशय बना रह जाय, वहाँ भी रस का सम्यक् आस्वादन नही हो सकेगा । यदि किसी श्लोक में अश्रु-प्रवाह, चिन्ता और पीड़ा का वर्णन किया जाता है, तब यह संशय बना ही रहता है कि यहाँ विप्र-लम्भ शृङ्गार की व्यंजना की जा रही है अथवा करुण रस की । क्योंकि विप्रलम्भ और करुण दोनों रसों में ही अश्रु-प्रवाह अनुभाव के रूप में देखा जाता है और चिन्ता और पीड़ा भी दोनों के संचारी भाव हैं । यदि विभाव का वर्णन कर दिया जाय तो यह संशय दूर हो जाता है क्योंकि करुण रस निरपेक्ष भाव लिये रहता है । अर्थात् करुण रस में आलम्बन की सत्ता ही नहीं रह जाती, उसकी मृत्यु दिखलाई जाती है, विप्रलम्भ में ऐसा नहीं होता, वहाँ पर आलम्बन से वियोग मात्र होता है ।

भारतीय साहित्य में रस का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है । आधुनिक विकसित मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर यदि रस का विवेचन किया जाय तो साहित्य का बड़ा उपकार हो ।

: ५ :

नाट्यदर्पणकार का रस-विवेचन

गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में नाट्यदर्पण नामक संस्कृत पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसके संपादक हैं बी० भट्टाचार्य एम० ए०, पी० एच-डी० । उक्त पुस्तक के लेखक और व्याख्याता श्री रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने रसास्वाद के सम्बन्ध में एक नूतन सिद्धान्त की उद्भावना की है । आपका कहना है कि शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस तो सुखात्मक हैं बाकी चार रस, करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक, दुःखात्मक हैं ।[1] नाट्य-शास्त्र के रचयिता भरत मुनि से लेकर रसगंगाधर के प्रणेता पंडितराज तक सभी आचार्यों ने रसास्वाद को केवल सुखात्मक माना है, किन्तु पिछली सभी परम्पराओं का अतिक्रमण कर उक्त पुस्तक के लेखकों ने निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को प्रकट किया है । अपने मत की स्थापना के लिए उन्होंने निम्नलिखित उपपत्तियाँ उपस्थित की हैं—

(१) सब रस सुखात्मक हैं, यह अनुभवसिद्ध नहीं । करुण रस से बेचैनी उत्पन्न होती है, सुख उत्पन्न नहीं होता । स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में लिखा है—"करुणरस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि 'आनन्द में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है । दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं । हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है ।" किन्तु दोनों रामचन्द्रों के मत में मौलिक अन्तर है । नाट्यदर्पण के प्रणेता

---

१. तत्रेष्टविभावादिश्शृंगारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पंच सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाप्र पुनीतात्मानः करुणरौद्रवीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः ।

—नाट्यदर्पण, पृ० १५६

रामचन्द्र तो रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं, जब कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल दुःख को भी रसात्मक बतलाते हैं।[1]

(२) यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि करुण रस के नाटकों से सुख नहीं मिलता, तब दर्शकगण नाहक ही ऐसे नाटक देखने का क्यों कष्ट उठाते हैं ? क्यों दर्शकों की उनमें दिलचस्पी देखी जाती है ? नाट्यदर्पणकार के मतानुसार दिलचस्पी का कारण करुण रस का सुखात्मक होना नहीं, अभिनेता के अभिनय-चातुर्य के कारण ही वे उसकी प्रशंसा करने में निमग्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ वीर और साहसी पुरुष भी उस व्यक्ति की प्रशंसा करते देखे गये हैं जो शिरच्छेद करने की कला में कुशल होता है। इस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं, अभिनेता के चातुर्य के कारण वे अपने आपको इतना भुला देते हैं कि उन्हें करुण रस भी सुखात्मक जान पड़ता है, यद्यपि वह सुखात्मक होता नहीं। करुण रस के नाटक देखने से भी दर्शकों के हृदय में एक प्रकार की सनसनी-सी पैदा होती है। इस सनसनी से उत्सुक होकर ही लोग करुणरसात्मक नाटक देखने के लिए प्रेरित होते हैं।

(३) कवि अपने काव्यों में सुख के साथ दुःख के दृश्य इसलिए भी उपस्थित करते हैं कि दुःखानुभूति के बाद सुखानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सुखद रूप धारण कर लेती है। कड़वी चीज खा लेने पर मधुर चीज आनन्दप्रद होती ही है।

(४) यदि करुणरस भी सुखद जान पड़े तो यह अभिनेता का दोष है क्योंकि रावण द्वारा सीता का अपहरण, दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर-हरण, हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के हाथ विक्रय, लक्ष्मण का शक्ति द्वारा घायल होना, रोहिताश्व की मृत्यु आदि दृश्य तो हृदय-विदारक हैं, इनसे सुख मिल ही कैसे सकता है ?

विप्रलम्भ शृंगार को नाट्यदर्पणकार ने भी भविष्य में संभोग की संभावना होने के कारण सुखात्मक ही माना है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शोक और करुणा में जो अन्तर है, उस पर

---

१. स्थायीभावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः। स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः।

—नाट्यदर्पण, पृ० १५८

नाट्य-दर्पणकार की दृष्टि नहीं गई। अपनी अथवा अपने सम्बन्धियों की हानि से जो दुःख होता है, वह वास्तविक है और उसे शोक का ही नाम दिया गया है, वह रस-कोटि में कदापि नहीं आ सकता। किन्तु दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो भाव जागृत होता है, उसे शोक नहीं कहा जाता, उसे करुणा के नाम से अभिहित किया जाता है। इसीलिए शोक-रस जैसा कोई रस साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध नहीं, आचार्यों द्वारा कहा हुआ करुण रस ही शब्दार्थ की दृष्टि से सर्वथा सार्थक तथा साभिप्राय है। दुःखात्मक नाटक में जब हम दूसरों का दुःख देखते हैं तो हमारे हृदय में शोक का भाव जाग्रत नहीं होता, करुणा का भाव उदित होता है। अब प्रश्न यह है कि दूसरों के दुःख को देखकर जो करुणा उत्पन्न होती है, वह सुखात्मक है या दुःखात्मक ? इस संसार में शायद ही कोई मनुष्य ऐसा हो जिसने किसी दुखी व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिए एक बार भी प्रयत्न न किया हो, और ऐसा करने में उसे सुख का अनुभव न हुआ हो। दूसरे के लिए स्वार्थ-त्याग करने में सुख मिलता है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' इसमें भी त्याग द्वारा भोग का उपदेश दिया गया है। स्वार्थ-त्याग से आखिर आनन्द क्यों मिलता है ? जब हम किसी दुखी व्यक्ति के दुःख-निवारणार्थ प्रयत्नशील होते हैं, तब हम उसके साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं और ऐसा करने से हम अपने 'अहं' के संकुचित कारागार से ऊपर उठकर उसकी परिधि को विस्तृत करते हैं। आत्म-प्रसार में ही सच्चा आनन्द सन्निहित है। त्याग द्वारा ही अहं की कारा तोड़ी जा सकती है। प्रेमी को अपने प्रेम मात्र के लिए बलिदान हो जाने में सुख का अनुभव होता है। देश-भक्त देश की रक्षा के लिए हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाता है। कठोर से कठोर मनुष्य का हृदय भी दूसरे के भीषण दुःख को देखकर पिघल जाता है। प्रकृत रूप में जब मनुष्य की आत्मा का प्रसार होता है, उस समय वह अहं की शृंखला को तोड़कर सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने लगता है। संकीर्णता आत्मा का सहज गुण नहीं है, वह उपाधि-जन्य है। मनुष्य की आत्मा है ही विभुस्वरूप, और जब वह अपने उपाधि-ग्रस्त रूप को छोड़कर अपना असली रूप धारण करती है, तब वह आनन्दित हो उठती है। अपने स्वरूप को पहचानकर सभी प्रसन्न होते हैं। 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति' का भी यही अर्थ है। मनुष्य जब तक केवल

अपने सुख के लिए प्रयत्न करता है, सच्चा सुख उससे दूर ही रहता है। एक ही जगह बँधा हुआ तालाब का पानी भी गँदला हो उठता है। आत्म-प्रसार होने पर ही अहं की कारा से मुक्ति मिलती है और सच कहा जाय तो यही आत्म-साक्षात्कार का आनन्द है, यही मुक्त दशा भी है। इतने विवेचन के बाद हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दुःखात्मक नाटकों में करुणा का भाव जागृत होने से आत्म-प्रसार का अवसर मिल जाता है और आत्म-प्रसार ही, जैसा ऊपर कहा गया है, आनन्द का मूल कारण है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है। इसी से भवभूति ने करुण रस को ही रसानुभूति का मूल मन्त्र बताया है और अंग्रेज कवि शैली ने कहा कि "सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले।"

इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से और विचार कीजिए। काव्य तथा नाटक में वर्णित अथवा प्रदर्शित दुःख तथा वास्तविक जीवन की दुःखानुभूति में महान् अन्तर है। अभिज्ञान शाकुन्तल में जहाँ शर-पतन से भयभीत होकर भागते हुए हरिण का चित्र अंकित किया गया है, वहाँ हरिण को कोई रस नहीं आ रहा है। वास्तव भयादि के अनुभव को रस नहीं कहा जा सकता। रस का आस्वादन करता है कवि तथा तटस्थ द्रष्टा। यहाँ भयानक रस की निष्पत्ति हुई है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हरिण को भयभीत देख कर दर्शक भी भयभीत हो रहा है। अगर वह भी भयभीत हो तो हरिण की तरह उसे भी रस की अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसे ही शोकार्त व्यक्ति भी रसानुभव नहीं कर सकता। आनन्द का मूल कारण भावमग्नता अथवा स्वस्थता है, परस्थता नहीं। जब तक हमारी वृत्तियाँ चंचल हैं, तब तक हम अन्तर्मुख होकर भाव-मग्न नहीं हो सकते, और बिना भावमग्न हुए सुख नहीं मिल सकता। परमात्मा ने भी सामान्यतः मनुष्य की वृत्तियों को बहिर्मुखी बनाया है, अन्तर्मुखी नहीं। वास्तव जगत् में इसलिए सुख के साथ दुःख का स्पन्दन देखने को मिलता है। जब किसी मनुष्य पर विपत्ति आती है तो वह प्रकृतिस्थ अथवा स्वस्थ नहीं रह सकता, वह परस्थ हो जाता है—इन्द्रियों का चांचल्य उसे ग्रसित कर लेता है। इससे यह न समझिए कि शोक

में ही वृत्तियाँ चंचल होती हैं। वास्तव जगत् की प्रणयानुभूति में भी चांचल्य पीछा नहीं छोड़ता। किन्तु काव्य अथवा नाटक में पाठक तथा दर्शक को जो रसानुभूति होती है, उसमें भावमग्नता के कारण वृत्तियों की चंचलता जाती रहती है और सब प्रकार के विघ्नों के तिरोहित हो जाने के कारण दर्शक स्वस्थ रहता है, भावमग्नता के कारण बाह्य घटनाएँ उसे विचलित नहीं कर पातीं। वास्तव जगत् में यदि किसी की प्रेयसी स्वर्ग सिधार जाती है तो प्रेमी उसके विरह में रो-रो कर व्याकुल और अधीर हो उठता है। उसके दुःख एवं उसकी विह्वलता का कारण है उसकी परस्थता। किन्तु काव्य में हमारी वृत्तियाँ रसास्वादन के समय अन्तर्मुखी हो जाती हैं, वासना रूप से जो भाव हमारे हृदय में स्थित हैं, उन्हीं में हम मग्न हो स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, भावमग्न होने के लिए भावों को कहीं से उधार नहीं लाना पड़ता, वे हमारे ही भाव हैं जिनमें हम मग्न होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है। यदि वास्तव जगत् में कवि को स्वयं शोकार्त होना पड़ा हो तो क्या वह काव्य-निर्माण का आनन्द नहीं उठा सकता? टेनीसन का 'इन मेमोरियम' एक घनिष्ठ मित्र के देहावसान पर लिखा गया था। एमर्सन ने अपने इकलौते पुत्र की मृत्यु पर Threnody की सृष्टि की थी। यहाँ भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मृत्यु की कटुता बहुत कुछ दूर हो गई है, भाव-तीव्रता ने भी उस दुःखद घटना की स्मृति के रूप में परिवर्तित होकर मृदुलता धारण करली है। ऐसे अवसर पर कवि केवल मित्र अथवा पिता ही नहीं रह जाता, वह कलाकार भी तो है। हाँ, यह अवश्य है कि दुःख की वैयक्तिकता किसी अंश में अब भी बनी हुई है किन्तु कलाकार के लिए उसका व्यक्तिगत दुःख भी उसकी काव्य-सृष्टि के लिए उपादान कारण बन जाता है। दुःखात्मक काव्य-रचना करते समय भी कवि दुःख का अनुभव नहीं करता, वह एक ऐसी शान्ति का अनुभव करता है जिसका उद्-भव तो दुःख से ही हुआ है, किन्तु भाव-मग्नता के स्पर्श से फिर भी जो स्वयं दुःख नहीं रह गयी है। काव्य के पारस-स्पर्श ने दुःख रूपी लौह को सुख-स्वर्ण में परिणत कर दिया है। शायद गुप्तजी ने कहीं लिखा था कि अपने व्यक्तिगत दुःख को मैंने काव्यगत पात्रों पर ढालकर अपने जी को हलका करने का प्रयत्न किया है। वर्डस्वर्थ ने 'शान्ति के समय स्मृति-पथ में लाये

हुए मनोवेग' को, जो काव्य की संज्ञा दी है उसमें बहुत कुछ तथ्य है। जब दुःख का तूफान मन्द पड़ जाता है तभी काव्य की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से विचारें तो रसों के सुखात्मक होने की समस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वास्तव में सभी रस सुखात्मक हैं और इसका मूल कारण है भाव-मग्नता।

: ६ :

करुण रस की सुखात्मकता

अंग्रेजी भाषा के महाकवि शेली की एक सुप्रसिद्ध सूक्ति है—The pleasure of sorrow is more pleasant than the pleasure of pleasure itself.—अर्थात् दुःख की आनन्दानुभूति सुख की आनन्दानुभूति की अपेक्षा अधिक सुखद है। संस्कृत के महाकवि भवभूति ने भी करुण रस को ही एक मात्र रस बतलाकर यही बात कही है। किन्तु प्रश्न यह है कि दुःखात्मक अथवा दुःखान्त नाटकों और काव्यों के पठन से जो सुखानुभूति होती है उसका कारण क्या है? कलाकार क्यों दुःखात्मक नाटकों की रचना करते हैं और दर्शक उनका अभिनय देखने के लिए क्यों जाते हैं? दुःखात्मक नाटकों के लिखने-पढ़ने अथवा देखने-सुनने से दुःख ही होना चाहिए, किन्तु इसके प्रतिकूल सुखानुभूति क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कारणों का उल्लेख करना असंगत न होगा—

हो सकता है, मनुष्य अपने अथवा अपने सम्बन्धियों को दुखी देखकर सुखी न हो, किन्तु दूसरे को दुखी देखकर उसको इस विचार से सान्त्वना मिल सकती है कि कम-से-कम मैं तो इस दुःख से मुक्त हूँ। ऐसी सुरक्षित भावना उसके आनन्द का कारण हो सकती है।

दूसरों को दुखी देखकर तो हमें दुःख ही होता है किन्तु दुःखात्मक दृश्यों से हमारा हृदय उद्वेलित हो उठता है। इस प्रकार हम दूसरों को दुखी देख कर आनन्द नहीं मनाते किन्तु दूसरों के दुःख से हमारे हृदय-क्षेत्र में भावों का जो एक संघर्ष उठ खड़ा होता है वही हमारे आनन्द का कारण होता है।

दुःखान्त नाटक देखते समय हमारा ध्यान यह रहता है कि यह जीवन की वास्तविक घटना नहीं है, यह तो केवल नाटक है, इसलिए हमारी अनुभूति दुःखपूर्ण न होकर सुखद रूप धारण कर लेती है।

जिस प्रकार सुखान्त नाटक सुखप्रद होता है, उसी प्रकार कोई कारण

नहीं कि दुःखान्त नाटक भी सुखप्रद न हो, क्योंकि दोनों ही प्रकार के नाटकों में भावों का व्यायाम होता है। उसमें परिणाम की दृष्टि से भले ही अन्तर हो किन्तु प्रकार की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

शोपनहार के शब्दों में दुःखान्त नाटकों के देखने से हमें जीवन की निस्सारता का अनुभव होता है। हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी राजा को जब हम श्मशान का पहरा देते हुए देखते हैं, जब शैव्या अकारण दुःख भोगती है और जब रोहिताश्व की दुःखद मृत्यु हो जाती है तो एक प्रकार के निराशावाद के विचार हमारे हृदय में घर कर लेते हैं। इस प्रकार की अनुभूति, जैसा दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष देखने में आता है, हमें आनन्द प्रदान करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारे किसी भी विचार का नाश नहीं होता। मनुष्य की सभी आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो पातीं, इसलिए कुण्ठित अथवा अतृप्त इच्छाएँ अचेतन मन में अपना स्थान बना लेती हैं। इच्छाओं का उन्नयन भी किया जा सकता है। नारी के प्रेम में अनुरक्त तुलसीदास राम के प्रेम में तल्लीन हो जाते हैं; आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बदल जाता है और आकांक्षाएँ उदात्त जीवन की ओर उन्मुख हो जाती हैं। पता नहीं, सुख का निवास-स्थान कहाँ है? कुछ लोग आकांक्षा की तृप्ति में सुख का अनुभव करते हैं किन्तु पन्त, महादेवी वर्मा और आदि रोमांटिक कवियों ने इस तरह के विचार प्रकट किए हैं जिनमें अतृप्त आकांक्षा में ही जीवन की सार्थकता देखी गयी है। उदाहरणार्थ—

१—उठ-उठ लहरें कहतीं यह,
हम कूल विलोक न पावें।
बस इस उमंग में बह-बह,
नित आगे बहती जावें॥—पन्त

२—प्यास ही जीवन, सकूँगी,
तृप्ति में मैं जी कहाँ?—महादेवी वर्मा

कुण्ठित इच्छाएँ भी सुख का कारण नहीं हो सकतीं। वे तो मनुष्य के मस्तिष्क को ही विकृत कर डालती हैं। इच्छाओं को उदात्त मार्ग की ओर उन्मुख कर डालना भी तो वस्तुस्थिति से बचने का प्रयास ही कहा जायगा।

तो क्या आकांक्षाओं का समूल नाश ही सुख का कारण है ? क्या ऐसा मनुष्य देखने में आता है जो अपने समस्त मनोरथों को चकनाचूर कर आशा-आकांक्षाओं से रहित हो गया हो ?

सुख वास्तव में समन्वय अथवा सामंजस्य में है । यह त्रिगुणात्मक सृष्टि ही, सच पूछा जाय तो, द्वन्द्वात्मक है । यहाँ सुख-दुःख, पाप-पुण्य, प्रेम-द्वेष के द्वन्द्व चलते ही रहते हैं । किसी भी अतिवाद के अवलंबन में सुख नहीं; सुख है विरोधी भावों के समन्वय में । हर एक वस्तु के दो पहलू होते हैं—एक ही पहलू को कट्टरपन से अपना लेने पर संकीर्णता और एकांगिता आ जायगी जो किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं ।

तत्वान्वेषी समीक्षक रिचर्ड्स ने ट्रेजेडी के आनन्द पर समन्वय अथवा सन्तुलन की दृष्टि से विचार किया है । उनके मतानुसार दुःखात्मक नाटकों में विरुद्ध और असंगत गुणों का जैसा सन्तुलन अथवा सम्मिलन होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । करुणा और भय दो परस्पर विरोधी गुण हैं जिनका दुःखात्मक नाटकों में परस्पर समझौता देखा जाता है । एक अच्छे पात्र के दुःख को देखकर दया भी आती है और दुःखों की भीषणता भयभीत भी कर देती है । हम पर भी ऐसा ही दुःख आ पड़ता तो न जाने क्या होता—इस विचार से हम काँप भी उठते हैं । करुणा और भय के अतिरिक्त और भी न जाने कितने विरोधी भाव इस प्रकार मिल जाते हैं जिस प्रकार ऋषियों के आश्रम में सिंह और गाय अपना स्वाभाविक बैर भूलकर एक घाट पानी पीने लगते थे । विरुद्ध भावों के सम्मेलन से मन एक प्रकार के हलकेपन का, उन्मुक्त भाव का, सन्तुलन अथवा स्वस्थता का अनुभव करता है । वही हमारे सुख का कारण है ।

इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि दुःखान्त नाटकों में न इच्छाओं के दमन के लिए अवसर है, न उनके उन्नयन के लिए । दमन अथवा उन्नयन का मार्ग कठिनाइयों का मार्ग है । दुःखात्मक नाटक की सफलता इसी में है कि हम बिना दमन आदि के दुःखात्मक घटनाओं का सामना कर लेते हैं । उस समय आनन्द का कारण यह नहीं है कि दुनिया का सब काम ठीक-ठीक चल रहा है अथवा सब कहीं, किसी भी प्रकार न्याय-मार्ग का अवलंबन हो रहा है, बल्कि आनन्द इसलिए मिलता है कि हमारी वर्तमान स्थिति स्वस्थता की स्थिति

है, हमारा मानसिक संस्थान यथोचित रूप से अपना काम कर रहा है। मनुष्य के मन की कोई ऐसी भावना नहीं, जिसका दुःखान्त नाटकों में समाहार न हो सके। दुःख ही एक ऐसा सूत्र है जिसके द्वारा समस्त विश्व में एकत्व की, समत्व की अनुभूति की जा सकती है। सन्तुलन एक ऐसी वस्तु है जिसका भारतीय शास्त्रों में भी जयजयकार हुआ है। विष पी लेने पर भी शंकर के शिवत्व को क्षति नहीं पहुँची। साहित्य में भी अमृत और विष एक साथ चल पाते हैं, तभी सच्चे आनन्द की सृष्टि होती है। दुःखान्त नाटकों में विष और अमृत जैसे विरोधी तत्त्व एकत्र देखे जा सकते हैं। मनुष्य की आत्मा भी मूलतः सन्तुलन-प्रधान ही है। वहाँ आत्मा को अपने असली रूप में आने का अवसर मिल जाता है, इसलिए स्वभावतः ही आनन्द की उपलब्धि होती है।

अरस्तू के रेचनवाद के सिद्धान्त के अनुसार, "करुणा-प्रधान नाटक को देखने या पढ़ने के बाद पाठक को जो एक प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है—एक प्रकार के सुख का अनुभव होता है—वह उस आरोग्य या आराम का परिणाम है जो कि उसे कलाकार रूपी चिकित्सक की चिकित्सा से प्राप्त होता है। मानव-हृदय में चिरकाल से इस वास्तविक जगत् में संचित करुणा और भय की दो वासनाएँ निहित हैं, उन्हें करुणा-प्रधान नाटक कृत्रिम रूप से उत्तेजित करके आँखों और रोमकूपों आदि के मार्ग से अश्रुजल और स्वेद आदि के रूप में निकालकर उसी प्रकार बाहर कर देता है, जैसे आँतों में रुके हुए पीड़ाजनक मल को जुलाब। किन्तु जुलाब द्वारा आँतों का स्थूल मल ही निकाला जा सकता है। अतः मल के उस सूक्ष्म अंश अथवा विष के बहिष्कार के लिए जो रोगी के रक्त में रम चुका होता है, एक दूसरे प्रकार की चिकित्सा आवश्यक होती है। इसका कार्य इस सूक्ष्म विकार को रक्त में ही पचाकर रोगी के रक्त की शुद्धि करना होता है। इसी प्रकार कलाकार की चिकित्सा के भी दो रूप होते हैं। एक तो वह, जो कि रह-रहकर पीड़ा देने वाली अन्तःकरण में कब-कब की सोयी हुई शोक और भय की वृत्तियों को जागरित करके इनके स्थूल अंश को आँखों के रास्ते बहा देता है और इनकी तीव्रता को इस प्रकार कम कर देता है, और दूसरा रूप वह है, जो इनके अवशिष्ट अंश की साधारणीकरण नाम की प्रक्रिया द्वारा शुद्धि या बहिष्कार करता है। हमारी मानसिक वृत्तियों में जो व्यक्तित्व का अंश है—ममत्व की भावना

है, वह वही विष है जिसके कारण हमारा हृदय वेदना, शोक, भय और क्षोभ आदि द्वारा अभिभूत हो जाता है। कलाकार की कला हमें वैयक्तिक वेदना आदि के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर मानवता की उस विशाल भूमि पर ला बिठाती है, जहाँ व्यक्तिगत वेदना सब की वेदना बन जाती है, और इसलिए जहाँ पहुँचकर वेदना वेदना न रहकर संवेदना का रूप धारण कर लेती है।" (डा० ईश्वरीदत्त)

दुःखान्त नाटकों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए यीट्स ने लिखा है—The tragedy must always be a drowning and breaking of the dykes that separate man from man. पानी को रोकने के लिए जिस प्रकार बाँध बना दिए जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य मनुष्य के बीच में भेद और विभिन्नताओं के बाँध बने हुए हैं—दुःखान्त नाटकों में ये सब बाँध डूब जाने चाहिएँ, टूट जाने चाहिएँ। यीट्स की दृष्टि में आह्लाद की अनुभूति में पात्र की व्यक्तिगत सत्ता बाधक सिद्ध होती है। भावावेग ज्यों-ज्यों तीव्र होता जाता है और पात्र उस भाव की तीव्रता या गम्भीरता में निमज्जित होने लगता है, उस समय पात्र कोई विशेष पात्र नहीं रह जाता, उसका साधारणीकरण हो जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दुःखात्मक नाटक में 'विशेष' का वर्णन न होकर 'सामान्य' का ही वर्णन होना चाहिए—प्रारम्भ में तो पात्र का विशेषत्व रहता ही है, आह्लाद का क्षण उपस्थित होने पर ही पात्र मात्र मानव रह जाता है। यीट्स की दृष्टि में 'The tragic joy results from that fulness when the world itself has slipped away in dark." जब पात्र भाव की तीव्रता या गहराई में इतना डूब जाता है कि वह अपने विशेष व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाय, उस समय वह एक प्रकार की सम्पूर्णता का अनुभव करता है और यह सम्पूर्णता ही दुःखात्मक नाटकों के आनन्द का कारण है।

F. L. Lucas दुःखान्त नाटकों के आनन्द की दूसरे ढंग से व्याख्या करते हैं। रेचनवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि कोई यह कहे कि मैं तीन महीने तक भली भाँति नहीं रो सका हूँ, इसलिए आज रात को कोई दुःखान्त नाटक देखकर चिर-संचित करुणा के भावों को अश्रुओं के रूप में बाहर निकालकर शान्ति अथवा आराम प्राप्त कर सकूँगा तो यह कितना

उपहासास्पद होगा। उनके मतानुसार, "Life is fascinating to watch, whatever it may be to experience. And so we go to tragedies not in the least to get rid of emotions, but to have them more abundantly ; to banquet, not to purge." जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का अनुभव करना आकर्षक है, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। हृदय में चिर-संचित भय और करुणा के भावों का अतिरेक हो जाने के कारण हम उनकी रेचन-क्रिया के लिए दुःखान्त नाटकों को देखने के लिए नहीं जाते किन्तु अपने जीवन सम्बन्धी अनुभव एवं भावों की अभिवृद्धि के लिए ही हम दुःखान्त नाटक देखना पसन्द करते हैं। हो सकता है कि दुखान्त नाटकों के देखने अथवा उनके पठन-पाठन से हम अपनी भूलों के प्रति सतर्क होकर अपने दैनिक कार्यों के करने में अधिक बुद्धिमानी का परिचय दे सकें किन्तु दुःखान्त नाटक देखने का हमारा यह उद्देश्य नहीं रहता, अपने अनुभव की वृद्धि एवं जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति ही इसका मुख्य एवं प्रेरक हेतु है।

दूसरी मुख्य बात यह है कि नाटक-गृह कोई अस्पताल नहीं है जहाँ दर्शक रूपी रोगियों की चिकित्सा की जाती हो। इस दृष्टि से विवेचन किये जाने पर भी रेचनवाद के सिद्धान्त की सदोषता दिखलाई पड़ती है।

ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार जीवित रहने अथवा आनन्द प्राप्त करने की मनुष्य में स्वाभाविक इच्छा रहती है, उसी प्रकार उसमें जिज्ञासा-वृत्ति भी सहज रूप में पाई जाती है। दुःखान्त नाटकों के देखने से भी हमारी जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति तो होती ही है, इसलिए आनन्द मिलता है। क्रूर, व्यभिचारमूलक, जुगुप्साव्यंजक दृश्यों का देखना किसी भी प्रकार से वांछनीय नहीं कहा जा सकता किन्तु हम कभी-कभी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए ऐसे दृश्यों को देखने लगते हैं। दुःखान्त नाटकों में तो इस जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति के लिए व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। कोई भी महच्चरित्र यदि दुःख भोग रहा हो तो उसके बारे में जानने के लिए हम उत्सुक हो उठते हैं।

बाबू गुलाबरायजी के मतानुसार जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार उन्हीं कारणों से दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हमको क्यों प्रसन्नता होती है? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा

हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते हैं। नाटक चाहे दुःखान्त हो, चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे जैसे हाड़, मांस, चाम के पुतले होते हैं और जो हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उनको प्रतिद्वन्द्विताशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं 'जो बिन काज दाहिने बाएँ' होते हैं, तथापि वे विरले हैं और उनका पिछला इतिहास देखा जाय तो वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होंगे। नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यास के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी कारण से दूषित नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते। उनसे हमारा जमीन, जायदाद का कोई झगड़ा नहीं होता। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको अपने पड़ौसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया भर से नहीं। और जिनका ईर्ष्या-भाव इतना व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध-काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। उनके द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती हैं। काव्य के आलम्बनों से हमारा निजी सम्बन्ध नहीं रहता वरन् मानवता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी-कभी मानवता से हटे होते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण सतोगुण-प्रधान होते हैं। इसी सतोगुण की अभिवृद्धि से तथा जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द है। हिन्दू शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दुःख क्या इस आनन्द में बाधक होता है? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए। वास्तविक जीवन में दुःख

का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है। काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं, उसमें कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सहानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। (यदि दर्शक को स्वयं लॉटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लॉटरी या सम्पत्ति मिलने से अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है। तीव्रता के स्थान में व्यापकता आती है।

नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। यह वैसा ही आनन्द है जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुखी और पीड़ितों की सहायता में आता है। दुःखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। शोक हम नहीं चाहते किन्तु करुण रस में मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुःखयम होते हैं, पर रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटकों का दुःख आनन्द में बाधक नहीं, वरन् सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (Tragedy) का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (Serious) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार होता है, और आत्मा का विस्तार ही सुख है। (सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव जाग्रत हो सकते हैं किन्तु दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते हैं, दुःखान्त नहीं। इसके और भी कई कारण हो सकते हैं।)

[इस निबन्ध में प्रस्तुत विषय सम्बन्धी विभिन्न मतों का स्पष्टीकरण मात्र ही लेखक का इष्ट रहा है। लेखक के वैयक्तिक दृष्टिकोण के लिए 'नाट्य-दर्पणकार का रस-विवेचन' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है]।

: ७ :

औचित्य-सिद्धान्त

जिस प्रकार रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्तों के साथ क्रमशः भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन और कुन्तक का नाम लिया जाता है, उसी प्रकार सामान्यतः औचित्य-सिद्धान्त का विवेचन करते समय क्षेमेन्द्र का नाम हमारे सामने अनायास उपस्थित हो जाता है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि औचित्य सिद्धान्त की उद्भावना करने वाले क्षेमेन्द्र थे। उन्होंने 'औचित्यविचार चर्चा' द्वारा इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप दिया और विशेषतः इसीलिए साहित्य-शास्त्र में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

औचित्य-सिद्धान्त के बीज भरत के नाट्य-शास्त्र में ही मिल जाते हैं।

"आदेशजोहि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।"

नाट्य-शास्त्र का यह प्रसिद्ध श्लोक है। प्रत्येक वस्तु यथास्थान ही शोभित होती है। मेखला को यदि हार के स्थान में धारण कर लिया जाय अथवा मस्तक पर तिलक न करके यदि पैर में तिलक किए जाएँ तो किसे हँसी न आयगी? भरत के उक्त श्लोक के साथ क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोक को मिलाकर पढ़िए तो कितनी आश्चर्यजनक समानता मिलेगी!

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नोगुणाः॥"

'कण्ठे मेखलया', 'नायान्ति के हास्यताम्' आदि से स्पष्ट ज्ञात होता है कि क्षेमेन्द्र ठीक वही बात कह रहे हैं जो भरत मुनि ने शताब्दियों पहले कही थी। उन्होंने कुछ उदाहरण और जोड़ दिये हैं तथा औचित्य का शब्दतः प्रयोग करके उसके महत्त्व का स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

भामह ने भी दोषों का विवेचन करते हुए बतलाया है कि दोष भी कभी-कभी दोष नहीं रह जाते, प्रत्युत वे काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं। आश्रय के सौन्दर्य से असाधु भी शोभाधारी बन जाता है जैसे कामिनी के सुन्दर नेत्रों में लगाया हुआ मलीमस अंजन।[1] रीति के विषय में ठीक यही बात कही जा सकती है। शृंगार रस के लिए गौड़ी रीति चाहे अनुपयुक्त हो किन्तु रौद्र रस के लिए इसके औचित्य को सभी ने स्वीकार किया है। इसी प्रकार वैदर्भी रीति, जो शृंगार के उपयुक्त है, रौद्र आदि रसों के लिए अनुचित कही जायगी। इससे ज्ञात होता है कि दोष या गुणों को औचित्य की अपेक्षा में ही देखना चाहिए। धर्मबिन्दु की टीका में ठीक ही कहा गया है—

"औचित्यमेकमेकत्रगुणानां राशिरेकतः
विषायते गुणग्रामः औचित्यपरिवर्जितः।"

औचित्य से वर्जित होने पर गुण भी विषवत् हो जाते हैं। भामह ने लोकविरुद्ध नामक दोष का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः प्रकृति सम्बन्धी अनौचित्य का नाम ही लोकविरुद्ध है। साधारणतः पुनरुक्ति की गणना दोषों में की जाती है, किन्तु भय, दुःख, ईर्ष्या, आनन्द और आश्चर्यादि भावों की अभिव्यक्ति के लिए पुनरुक्ति की उपादेयता को कौन अस्वीकृत कर सकेगा? 'प्रिये नास्ति पुनरुक्तम्' यह प्रवाद तो प्रसिद्ध ही है। दण्डी ने भी काव्यादर्श के चतुर्थ अध्याय में दोषों की विवेचना करते समय प्रायः इसी प्रकार का अभिमत प्रकट किया है किन्तु इन आलंकारिकों ने औचित्य का शब्दतः प्रयोग नहीं किया। सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हुए औचित्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रट ने किया है। यदि नाटक में किसी पागल का चित्रण करना हो तो उसके अर्थहीन प्रलापों में भी औचित्य का समावेश समझा जायगा। औचित्य का सम्यक् विवेचन आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक में मिलता है। आनन्दवर्द्धन की निम्नलिखित कारिका औचित्य के सम्बन्ध में बहुधा उद्धृत की जाती है—

---

१. **"किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि**
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।"

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्[१]
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।"

ध्यान देने की बात यह है कि औचित्य पर एक पुस्तक लिख देने पर भी क्षेमेन्द्र के किसी श्लोक को इतनी ख्याति न मिल सकी जितनी आनन्दवर्द्धन के उक्त श्लोक को मिली है। जान पड़ता है कि आनन्दवर्द्धन के बाद ही औचित्य शब्द का विशेष प्रयोग होने लगा और स्वयं क्षेमेन्द्र को भी "औचित्य विचार चर्चा" लिखने के लिए आनन्दवर्द्धन से ही प्रेरणा मिली। काव्य की आत्मा का विवेचन करते हुए आलोचक रस के स्थान में भी औचित्य का प्रयोग करने लगे थे। अभिनवगुप्त ने ऐसे आलोचकों को आड़े हाथों लेते हुए लिखा—'उचित शब्द से रस विषयक औचित्य की ही प्रतीत होती है। रस को छोड़ कर आखिर फिर किसकी अपेक्षा में औचित्य का उद्घोष किया जाता है?'[२] अभिनव ने ही रस, ध्वनि औचित्य के तारतम्य का भली भाँति स्पष्टीकरण किया। रस काव्य की आत्मा है किन्तु केवल शृंगार शब्द का प्रयोग कर देने मात्र से रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता। रस तो विभावादि द्वारा अभिव्यक्त या ध्वनित होता है, अर्थात् रसास्वादन ध्वनि का व्यापार है और औचित्य के अभाव में रस का उपभोग नहीं किया जा सकता। महाकवि कालिदास ने भी जहाँ देवविषयक रति का वर्णन किया है, वहाँ अनौचित्य के कारण रस में व्याघात उपस्थित हुआ है। वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने भी औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है।

भोज, कुन्तक तथा महिमभट्ट ने भी औचित्य का उल्लेख किया है, किन्तु विस्तार-भय से उन सबका विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। हाँ, क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। क्षेमेन्द्र आचार्य अभिनवगुप्त का शिष्य था। अभिनवगुप्त ने आत्मा और जीवित का समानार्थक शब्दों की भाँति प्रयोग किया है, किन्तु क्षेमेन्द्र ने रस को काव्य की आत्मा और औचित्य को जीवित कहकर इन दोनों शब्दों के अर्थ-भेद को स्वीकार किया है—

---

1. In aesthetics no property is absurd if it is in keeping.

—Robert Bridges.

२. उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यत इति भावः।

"रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥"

ध्वन्यालोक के तीसरे अध्याय से क्षेमेन्द्र को 'औचित्य विचार चर्चा' के प्रणयन में बहुत सहायता मिली है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, काल, देश आदि के साथ माना है और कहा है कि इस प्रकार के अन्य औचित्यों की भी सम्भावना कर लेनी चाहिए। 'सुवृत्ततिलक' में स्वयं क्षेमेन्द्र ने वृत्तों के औचित्य पर विस्तारपूर्वक विचार प्रकट किये हैं। निम्नलिखित कारिकाओं में क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

"काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणास्सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
उचितस्थाविनन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥"

उचित स्थान-विन्यास से ही अलंकार का अलंकारत्व है, नहीं तो अलंकार की संज्ञा ही नही दी जा सकती। औचित्यसमन्वित होने पर ही गुणों को गुणों के नाम से अभिहित किया जा सकता है, नहीं तो गुण भी दोष बन जाते हैं। औचित्य और हास्य रस के सम्बन्ध में भी एक शब्द कह देना असंगत न होगा। 'अनौचित्य ही हास्य का मूल कारण है, जैसा कि पहले कहा गया है। इसलिए जहाँ हास्य रस की निष्पत्ति करनी हो, वहाँ अनौचित्य ही औचित्य का रूप धारण कर लेता है। "सुगन्धित काष्ठ का धूम भी मधुर होता है। सुन्दरियों की अविनय भी आनन्द का कारण बन जाती है। साधारणतः लज्जा स्त्रियों का आभूषण समझा जाता है किन्तु सुरत काल में जिस तरह धृष्टता आनन्ददायिनी है, उसी प्रकार हास्य में अनौचित्य ही औचित्य का रूप धारण कर आनन्दप्रद हो जाता है।"—माघ।

रस, ध्वनि और औचित्य—ये तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समालोचना के

क्षेत्र में संस्कृत-साहित्य की अमर देन हैं। औचित्य एक बहुत व्यापक सिद्धान्त है जिसकी परिधि में प्रायः सब कुछ आ जाता है। रस को भी औचित्य का अवलम्बन करना पड़ता है; ध्वनि की सत्ता होते हुए भी औचित्य के अभाव में रसभंग हुए बिना नही रह सकता। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में "जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा नहीं आने देना चाहिए। जिस तरह शरबत आदि किसी तरल वस्तु में कर-कर गिर जाने के कारण वह खटकने लगता है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रस का भंग कहते हैं। और अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना। जाति-विरुद्ध — जैसे बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य पराक्रम आदि और सिंह आदि का सीधापन आदि। देश-विरुद्ध—जैसे स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि। काल-विरुद्ध—जैसे ठण्ड के दिनों में जलविहार आदि और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। वर्ण-विरुद्ध— जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना। आश्रम के विरुद्ध—जैसे ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताम्बूल चवाना और स्त्री को स्वीकार करना। अवस्था के विरुद्ध—जैसे बालक और बूढ़े का स्त्री-सेवन और युवा-पुरुष का वैराग्य। स्थिति के विरुद्ध—जैसे दरिद्रों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्रों जैसा आचरण।······ जयदेव आदि कवियों ने गीत-गोविन्द आदि ग्रन्थों में, सब सहृदयों के माने हुए इस संकेत को, (देवविषयक रति का वर्णन अनुचित है) मदोन्मत्त हाथियों की तरह तोड़ डाला है, उनका दृष्टान्त देकर आधुनिक कवियों को इस तरह के वर्णन न करने चाहिएँ।"

इस सैद्धान्तिक विवेचना के उपरान्त विषय के स्पष्टीकरण के लिए हिन्दी साहित्य से औचित्य तथा अनौचित्य सम्बन्धी कुछ उदाहरण देना अनुपयोगी न होगा।

क्रियागत औचित्य—

"नंद ! ब्रज लीजे ठोंकि बजाय ।

देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ।।" —सूरसागर

स्वर्गीय आचार्य शुक्ल 'ठोंकि बजाय' के औचित्य पर मुग्ध थे । उन्हीं के शब्दों में 'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है ! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ ।' 'ठोंकि बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष—इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शबलता ही कहने से सन्तोष नहीं होता—पाई जाती है । पाश्चात्य समीक्षकों ने इसी प्रकार के शब्दों को Inevitable words का नाम दिया है । 'ठोंकि बजाय' के स्थान में इतना व्यंजक दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता ।

वृत्त का औचित्य—

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोचलो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो ।" इत्यादि ।

चन्द्रगुप्त नाटक में अलका के इस समवेत गायन को पढ़ते ही शिव-ताण्डव-स्तव की निम्निलिखित पंक्तियाँ अनायास स्मरण हो आती हैं—

"जटाकटाहसंभ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्द्धनि ।
धगद्धगद्धगज्ज्वलंल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ।।"

अलका के समवेत गान तथा शिव-ताण्डव स्तोत्र दोनों में समान छन्द (पंचचामर)[1] का प्रयोग किया गया है जिसके प्रत्येक चरण में ह्रस्व-दीर्घ,

---

१. **लघुर्गुरुर्निरन्तरं क्रमेण दीयते यदा ।**
तदा नराचमुच्यते परैस्तु पंचचामरः । —वृत्तचन्द्रिका

ह्रस्व-दीर्घ के क्रम में १६ वर्ण होते हैं। अभियान-गीत के लिए यह छन्द यहाँ कितना फिट बैठा है। मार्च करने में भी एक कदम धीरे रखकर दूसरे कदम पर कुछ बल पड़ता है।

अलंकार का औचित्य

उत्प्रेक्षा—

> **"सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।**
> **छवि गृह दीप सिखा जनु बरई।"**—तुलसी

इस उत्प्रेक्षा के औचित्य का व्याख्यान श्री लमगोड़ाजी कर चुके हैं, इसलिए यहाँ पिष्टपेषण अनावश्यक होगा।

उपमा और श्लेष—

> **"ऊधो ! सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।**
> **मोती ऐसा रतन अपना आह ! कोई न खोवे।"** —प्रियप्रवास

× × ×

> **"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में 'स्मृति-सी' छाई।**
> **दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई॥"**

—आंसू

स्वभावोक्ति—

> **"वह आता—**
> **दो टूक कलेजे के करता—पछताता पथ पर आता**
> **पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक—चल रहा लकुटिया टेक**
> **'मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता'······"** इत्यादि—बिम्ब ग्रहण

पृष्ठभूमि का औचित्य—

> **"हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह ;**
> **एक पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय-प्रवाह।"**

—कामायनी

अनुकृतिगत औचिय—

अनुकरणात्मक शब्द-प्रयोग द्वारा 'साकेत' के निम्नलिखित छन्द में शब्द-ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति हो रही है—

> **"सखि, निरख नदी की धारा,**
> **ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा !**
> **निर्मल जल अन्तःस्तल भरके, उछल उछल कर, छल छल करके,**
> **थल थल तरके, कल कल धरके, बिखराता है पारा !**
> **सखि, निरख नदी की धारा ।"**

भावावेश का औचित्य—

क्षेमेन्द्र ने जितने औचित्यों का उल्लेख किया है, उनमें भावावेश के औचित्य का और समावेश किया जाना चाहिए ।

उदाहरणार्थ—

"हे कदम्ब ! तुम्हारे फूलों से अधिक प्रीति रखने वाली मेरी प्रिया को यदि जानते हो तो बताओ । हे बिल्व-वृक्ष ! यदि तुमने उस पीतवस्त्र-धारिणी को देखा हो तो बताओ । हे मृग ! उस मृगनयिनी को तुम जानते हो ?"

—वाल्मीकि

इसी प्रकार तुलसी के राम भी वन के पशु-पक्षियों से पूछते हैं—

> **"हे खग, मृग, हे मधुकरश्रेनी ! तुम देखी सीता मृगनैनी ?"**

इस प्रकार का संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic Fallacy) क्या काव्य-दोषों में परिगणित किया जा सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि यदि पशु-पक्षी प्रश्नों का उत्तर देने लगते तो अवश्य अस्वाभाविकता आ जाती ।

हिन्दी साहित्य में अनौचित्य के उदाहरण केशव से अनायास ढूँढे जा सकते हैं । केशव उचित-अनुचित का विचार नहीं करते थे । उनको इस बात की चिन्ता न थी कि कौनसा वर्णन अवसरोचित है । वन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश देना तो बहुत अस्वाभाविक हो गया है । देशगत विशेषताओं का निरीक्षण किए बिना ही 'तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर' आदि का वर्णन उन्होंने कर दिया है । इस

प्रकार के पद्यों को हम देशगत अनौचित्य के उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं। भरत की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन भी अवसरोचित नहीं है। केशव ने बहुतकर अलंकारों के लिए अलंकारों और छन्दों के लिए छन्दों की रचना की है। कहीं-कहीं तो अलंकार-प्रयोग में भी बहुत अनौचित्य हो गया है। 'वासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत' में राम की उलूक से तुलना कितनी अनुचित हुई है !

पदगत अनौचित्य—

> **"जब ऋषिराज विनय करि लीनों।**
> **सुनि सब के करुणा रस भीनों॥"**
>
> —रामचन्द्रिका

यहाँ करुणा की कोई बात नहीं, इसलिए करुण शब्द का प्रयोग अनुचित है।

> **"विनती करिए जन जो जिय लेखो।**
> **दुख देख्यो ज्यों काल्हि त्यों आजहु देखो॥"**

कल जैसे कष्ट किया, वैसे आज भी कष्ट कीजिए, इस अर्थ में दूसरी पंक्ति का प्रयोग हुआ है. किन्तु अमंगलसूचक शब्दों के कारण यह वर्णन समीचीन नहीं।

प्रसंगगत अनौचित्य—

> **"अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।**
> **मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥**
> **परिपूरण सिन्दूर पूर कैधौं मंगलघट।**
> **किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूषपट॥"**

इन पंक्तियों के बाद सूर्य के वर्णन में निम्नलिखित पंक्ति में जो वीभत्स दृश्य केशव सामने लाते हैं वह प्रसंग को देखते हुए अनुचित है—

> **"कै श्रोणित कलित कपाल यह, किल कपालिका काल को।"**

किन्तु केशव ने भी जहाँ उचित शब्द का प्रयोग किया है वहीं काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि हुई है—

शोक की आगि लगी परिपूरण, आइ गये घनश्याम बिहाने ।

—केशव

'औचित्य विचार चर्चा' के मंगलाचरण में क्षेमेन्द्र ने जैसे 'अच्युताय नमस्तस्मै' कह कर अच्युत शब्द का अत्यन्त समीचीन प्रयोग किया है, उसी प्रकार घनश्याम शब्द का प्रयोग इस स्थल पर बहुत सुन्दर हुआ है ।

क्रियागत अनौचित्य

सखि, नील नभस्सर में उतरा, यह हंस अहा तरता तरता ।
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता ।।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता ।
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता ।।

—साकेत

यहाँ श्लेष-लाघव से रूपक तो सिद्ध हो गया किन्तु बेचारे हंस की दुर्दशा हो गई । 'चरना' शब्द बैलों आदि के लिए आता है । हंस मोती चरा नहीं करते, चुगा करते हैं । वैसे कुल मिला कर यह पद्य बड़ा सुन्दर बन पड़ा है ।

विश्व के जिन कवियों ने ख्याति प्राप्त की है उनकी रचनाओं में औचित्य का अतिक्रमण बहुत कम मिलेगा । माघ, हर्ष, भारवि आदि संस्कृत के जिन कवियों ने अनुपात का ध्यान न रख कर केवल वर्णन के लिए वर्णन कर डाले हैं, वहाँ रस की क्षति हुई है । किन्तु नैषध में जहाँ हंस का करुण-क्रन्दन है, वह स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़ा है । शृंगार और करुण रस में यमक और श्लेष का यदि आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया जाय तो उससे रस में व्याघात ही उपस्थित होता है; इससे कवि की शक्ति मात्र का ही पता लगता है, रसिकता का नहीं ।

वस्तुतः देखा जाय तो यथास्थान ही सब वस्तुएँ शोभित होती हैं । गंगा की गैल में मदार के गीत अच्छे नहीं लगते । देवताओं के चार, पाँच और छः मुख तक सुने गए हैं किन्तु किसी मनुष्य के दो मुख भी कभी देखने में आ जाएँ तो उससे सौन्दर्य में वृद्धि न होकर भयंकर कुरूपता ही दृष्टिगोचर होगी । देवताओं की देवता जानें, कोई कलाकार यदि मनुष्य का भी देवता-वत् चित्रण करता है तो यह भी अस्वाभाविक जान पड़ेगा । इस पृथ्वी पर

आकर तो स्वयं भगवान् भी मनुष्य के रूप में प्रकट हुए। भगवान् के विराट् रूप ने तो अर्जुन को भयभीत ही कर दिया था। परमौचित्यकारी होने के कारण ही भगवान् का एक नाम अच्युत भी है। निबन्ध को अनावश्यक विस्तार देना भी क्या औचित्य की परिधि का अतिक्रमण न होगा ?

: ८ :

रहस्यवाद का स्वरूप

रहस्यवाद एक ऐसा शब्द है, जिसका बहुधा दुरुपयोग किया जाता है और जिसका बिना सोचे-समझे लोग प्रयोग करते हैं। बहुत से तो ऐसे हैं जो आज के इस बौद्धिक युग में रहस्यवाद का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं और इस शब्द तथा इसके प्रयोक्ताओं की खिल्ली उड़ाते हैं। उनका खयाल है कि रहस्यवादी परमात्मा और सृष्टि के बारे में ऊटपटाँग बातें फैलाते हैं, लोगों को भ्रम में डालते हैं और रहस्यवाद के विष का प्रचार कर सच्चे ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में बाधक सिद्ध होते हैं। किसी ने तो यहाँ तक कह डाला है—"रहस्यवाद की चर्चा के साथ ही धूमिलता या अस्पष्टता मुँह बाए सामने आ खड़ी होती है, इस (रहस्यवाद) का केन्द्र है अहं और इसका परिणाम है मत-मतान्तरों की सृष्टि कर भेद-भाव उत्पन्न करना।"

रहस्यवाद अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज़्म' का हिन्दी रूपान्तर है। गुरु जिसे आध्यात्मिक मन्त्र देकर दीक्षा प्रदान करते थे, उसे गुप्त रखने की प्रथा प्रायः सभी देशों में पाई जाती थी। सम्भवतः इसीलिए रहस्यवाद के साथ रहस्य अथवा गुप्त भेद का अभिन्न सम्बन्ध-सा हो गया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में दो बातें तो निश्चित रूप से कही जा सकती हैं—प्रथम, विश्व के कतिपय विचारकों की यह प्रमुख विशेषता रही है; उपनिषदों के ऋषियों ने, प्लैटो, प्लॉटीनस, गेटे, हीगल, एकहार्ट तथा स्पिनोजा आदि ने रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। द्वितीय, रहस्यवाद एक ऐसी ज्योतिर्मयी ज्वाला है जो रहस्यवादी के समस्त जीवन को आलोकित करती रहती है। उसका रहस्यवाद उसके जीवन का केन्द्र बन जाता है और एक प्रकार की मस्ती उस पर छाई रहती है, जैसा कि कबीर ने कहा है—

हरि रस पीया जाणिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमन्ता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥

सामान्यतः रहस्यवाद के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं—(१) जिनमें आत्मा और परमात्मा के मिलन का दार्शनिक निरूपण किया जाता है और (२) जिनमें जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की अपरोक्षानुभूति का वर्णन होता है। रहस्यवाद के सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से है और रहस्यानुभूति का सम्बन्ध मनोविज्ञान अथवा व्यक्तिगत धर्म से। यह अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है कि रहस्य-तत्त्व का जैसा दार्शनिक विवेचन किया गया है, ठीक उसके अनुरूप ही रहस्यानुभूति का रूप भी प्रत्यक्ष होता हो। मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति के असंख्य प्रकार हो सकते हैं, उसकी कोई इयत्ता नहीं, उसकी किसी सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा ने मनुष्य की वृत्तियों को बहिर्मुखी बनाया है, अन्तर्मुखी नहीं। किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो चरम सत्य के उद्घाटन के लिए बेचैन हो उठते हैं। रहस्यवादियों के मतानुसार यह उद्घाटन न बुद्धि का विषय है, न वाणी का, न मन का—इसका सम्बन्ध है प्रातिभ ज्ञान से। प्रातिभ ज्ञान सामान्य नहीं होता, इसका सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से ही रहता है। रहस्यवादी प्रातिभ ज्ञान की सहायता से ही सत्य की उपलब्धि करता है। किन्तु यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि रहस्यवादी की भाषा न ज्ञान की भाषा है, न केवल भावुक की। किसी-किसी ने उसे 'संध्या-भाषा' का नाम दिया है। जो सत्य को ग्रहण करना चाहता है, सत्य के साथ एकाकार होना चाहता है, उसे प्रातिभ ज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है, जिसे हम एक प्रकार की दिव्यानुभूति भी कह सकते हैं। दिव्य दृष्टि-सम्पन्न कवि तर्क नहीं करता, वह श्रद्धा की सहायता से आगे बढ़ता है। 'कामायनी' में मनु की इस रहस्यमयी उक्ति को देखिए—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो, ऐसा होता भान
मन्द गभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।

चरम सत्य तो वास्तव में एक बहुमुखी देव है। जिस दृष्टिकोण से रहस्यवादियों ने उसे देखा, उसी रूप में उसे प्रकट कर दिया। इसलिए कुछ

रहस्यवादियों के विचार ही परस्पर-विरोध की सीमा तक पहुँच गए हैं। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति में ही दिव्य ज्योति की झलक देखी, जब कि अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कवि ब्लेक को प्रकृति चरम सत्य के साक्षात्कार में बाधक प्रतीत हुई। उसने कल्पना को ही एकमात्र सत्य समझा। किन्तु भिन्नता में एकता के सिद्धान्त को सभी रहस्यवादियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। यह रहस्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त है और गीताकार के शब्दों में सभी देशों और सभी कालों के रहस्यवादी यही कहना चाहेंगे—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥

अर्थात् जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्विक ज्ञान समझना चाहिए।

भिन्नता में एकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद हम स्वभावतः ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नाम-रूपात्मक जगत् जो हम देखते हैं, उसी अव्यक्त दिव्य सत्ता का व्यवत रूप है, और पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय, तो उस दिव्य सत्ता की हीवास्त विक सत्ता है, और सब तो नश्वर है। यदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एकता का सिद्धान्त सत्य है, तो मनुष्य में भी निस्सन्देह ईश्वरीय अंश की सत्ता स्वीकार करनी होगी — मनुष्य भी तो उसी अमर ज्योति की एक किरण है। रहस्यवादी इस बात में विश्वास करता है कि भौतिक पदार्थों को समझने के लिए जिस प्रकार बुद्धि से काम लेना पड़ता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व की अनुभूति के लिए प्रातिभ ज्ञान की आवश्यकता होती है। बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान की पद्धति नितान्त भिन्न है। किसी वस्तु के बाह्याकार को देखकर एवं इतर वस्तुओं से उसकी तुलना कर, उसका विश्लेषण कर हम बौद्धिक ज्ञान तो प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान इस तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है तदाकार हो जाना। केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण से वहाँ काम नहीं चल सकता। तुलसीदास ने सच ही कहा है—

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई ।
जिमि गृह-मध्य दीप की बातन तम-निवृत्त नहीं होई ।।

अगर प्रेम का सच्चा रहस्य समझना है, तो हमें प्रेम करना होगा । अगर हम उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो हमें भी दिव्य जीवन व्यतीत करना होगा । समान से ही समान का ज्ञान होता है । ईश्वरानुभूति के लिए भी ज्ञाता को ज्ञेय बनना होगा । उसे ही ज्ञान की चरम स्थिति समझिए । "रहस्यवादी की भी एक वह अवस्था होती है, जिसमें वह विश्व-जगत् और आत्म-जगत् में किसी भी प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं करता; ईश्वरीय अनुभूति आत्म-दर्शन के रूप में परिणत हो जाती है । रहस्यवादी कवि जब एक प्रकार के अखण्ड चिन्मय लोक में विचरण करता है, उस समय वह न भोक्ता है, न रूप का पुजारी है, न द्रष्टा है—वह केवल भावलोक में विचरण करने वाला विदेही, विश्व-चैतन्य मात्र है ।" रहस्यानुभूति की अवस्था असीम शान्ति की अवस्था है । वर्ड्सवर्थ ने भी 'वस्तुओं में केन्द्रीय शान्ति' का अनुभव किया था ।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि रहस्यवादी की जो विचारधारा बनती है, वह उसकी स्वानुभूति का परिणाम है । इसी से दार्शनिक और रहस्यवादी का अन्तर स्पष्ट होता है । रहस्यवादी उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करता है । इससे वह उल्लसित और आह्लादित होता है । किन्तु वह अपनी अनुभूति दूसरों को प्रदान नहीं कर सकता । रहस्यवादी की स्थिति ऐसी ही है, जैसे अन्धों के समुदाय में किसी को अचानक ज्योति मिल गई हो और उससे प्रफुल्लित होकर वह दूसरे अन्धों को ज्योति का स्वरूप समझाने का प्रयत्न करता हो । किन्तु वे उसकी बात को अविश्वास की दृष्टि से देखेंगे और कहेंगे कि पागल हो गया है, जो आज इस तरह की अनहोनी बातें करने लगा है !

रहस्यवाद के निरूपण में प्रतीकवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है । रहस्यवादी प्रतीकों की भाषा में ही अपने विचार प्रकट करता है । मनुष्य केवल बुद्धि की सहायता से चरम सत्य तक नहीं पहुँच पाता । रहस्यवादी किस तरह अपने विचारों को अभिव्यक्त करे और कैसे किसे समझावे—'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?' रहस्यवादी के लिए प्रतीकों के प्रयोग के अतिरिक्त और कोई

चारा नहीं। प्रतीकों द्वारा पाठक अथवा श्रोता सत्य का कुछ आभास पा जाते हैं। मानवी प्रेम को दिव्य प्रेम का प्रतीक मानकर रहस्यवादी कवियों ने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। वृक्ष पर से गिरते हुए पत्तों को नश्वरता का प्रतीक मानकर विचार प्रकट किए गए हैं। रहस्यवादी की दृष्टि में साधारण से साधारण वस्तु भी महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लेती है, क्योंकि वह उसे अव्यक्त का व्यक्त रूप मानकर आनन्दित हो उठता है।

रहस्यवादी विचारधारा का मूल उपनिषदों में मिलता है। आत्मा और परमात्मा में वस्तुतः कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सांसारिक माया के आवरण के कारण ही भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। कबीर ने इस तथ्य को बहुत ही सरल ढंग से समझाया है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथो गियानी।

किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात कबीर ने जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह के सम्बन्ध में कही है, जिसमें रहस्यवादियों का अटूट विश्वास देखा जाता है—

जनम और मरण बीच देख अन्तर नहीं
दच्छ औ बाम यूँ एक आही।
कहै कबीर या सैन गूंगा तईं
वेद कातेब की गम्य नाहीं॥

अर्थात् जिस प्रकार दाहिना और बायाँ एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, उसी प्रकार जन्म और मरण भी तत्त्वतः दो वस्तुएँ नहीं; जीवन-रूपी सिक्के के ही दो पहलू हैं। कबीर कहते हैं कि वेद और कुरान इस रहस्य तक नहीं पहुँच पाते; यह तो गूँगे का गुड़ है, जिसे 'सैना-बैना' से ही समझाया जा सकता है। मर्मी कवि रवीन्द्र ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है। वे भी मृत्यु के साथ जीवन का अवसान नहीं मानते। मृत्यु तो उनकी दृष्टि में माता के एक स्तन को छोड़कर दूसरे स्तन से लग जाना है। रवीन्द्र का यह जीवन-दर्शन तो आधुनिक युग में बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। हमारे एक मित्र सुना रहे थे कि कबीर की उक्त पंक्तियाँ जब कवीन्द्र को सुनाई गई, तो वे बोल उठे—'बड़ी चमत्कारपूर्ण उक्ति है।'

रहस्यवाद का मनोविज्ञान

हरि-रस के नशे में छके हुए रहस्यवादियों का कहना है कि हम जो ध्वनियाँ सुनते हैं और जो दृश्य देखते हैं, वे सब दिव्य अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। अण्डरहिल आदि जिन विद्वानों ने रहस्यवाद पर ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने इन ध्वनियों और दृश्यों का वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि रहस्यवाद किसी देश-विशेष की उपज नहीं। सभी देशों के इतिहास में ऐसे रहस्यवादियों का वर्णन मिलता है, जिनको दिव्य अनुभूतियाँ हुई हैं। इन दिव्य अनुभूतियों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सब देशों के रहस्यवादियों की अनुभूतियाँ बिलकुल एक-सी हों, ऐसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस रहस्यवादी का मानसिक ढाँचा जिस ढंग से बना हुआ हो, उसी तरह की अनुभूति उसको होती है। कृष्ण के भक्त को कृष्ण के दर्शन होते हैं, ईसा-मसीह के नहीं। किसी भी हिन्दू रहस्यवादी ने कभी यह नहीं बतलाया कि आसमान से उड़ता हुआ कोई फरिश्ता उसके पास आया और बातचीत करने लगा। अगर हम रहस्यवादियों के प्रारम्भिक जीवन का अध्ययन करें तो हमें इस बात का पता चलेगा कि जिस प्रकार के वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ, जैसी शिक्षा-दीक्षा उनको मिली, उसी ढाँचे में उनका जीवन भी ढल गया।

दिव्य दर्शन की दो ढंग से व्याख्या की जा सकती है। प्रथम, परमात्मा अपने भक्तों के सामने उन्हीं रूपों में प्रकट होता है, जो रूप भक्त को प्रिय हैं। परमात्मा का तो कोई रूप-रंग है नहीं, वह भक्तों के लिए ही रूप धारण करता है, और जिस उप में भक्त अपने प्रभु से मिलने की आशा करता है, उसी रूप में वह उसको दर्शन देता है। द्वितीय, रहस्यवादी की कोई अतृप्त इच्छा ही जब किसी वस्तु का रूप धारण कर उसके सामने प्रत्यक्ष होती है, तभी उसको वह दिव्य अनुभूति कहने लगता है। किन्तु इस प्रकार की दिव्य अनुभूतियों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। रहस्यवादी के अचेतन मन में किसी अनुभूति की जब उत्कट इच्छा होती है, तो उसके लिए वह रूप खड़ा कर देता है। यह सच है कि इस आश्चर्यजनक व्यापार में उसके चेतन मन का हाथ नहीं रहता और अचेतन मन की करतूतों का चेतन मन को पता नहीं रहता।

अचेतन मन धीरे-धीरे अपनी किसी अतृप्त इच्छा की सन्तुष्टि के लिए रूप निर्माण करता रहा। जब वह रूप बनकर बिलकुल तैयार हो गया और चेतन मन पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ा, तब यह कहा जाने लगा कि इस प्रकार का दिव्य-दर्शन तो नितान्त अलौकिक है, आश्चर्यजनक है, अद्भुत है।

रहस्यवादी दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो पाते। उनका कहना है कि रहस्यवादी दो लोकों का नागरिक होता है—इस लोक का तथा दिव्य लोक का। रहस्यवादियों के दिव्य लोक का मनोवैज्ञानिकों को पता नहीं, इसलिए अज्ञात वस्तु की चर्चा करना उनकी अनधिकार चेष्टा है, एक प्रकार का उपहासास्पद व्यापार है, जिसे सुनकर रहस्यवादियों को सचमुच हँसी आती है। जिस प्रकार मनोविज्ञान रहस्यवाद की अपने ढंग से व्याख्या करता है, उसी प्रकार मार्क्सवाद भी। मार्क्सवाद के अनुसार रहस्यवाद पलायनवृत्ति का परिणाम है। जब कवि भौतिक संघर्षों से बचना चाहता है, तब वह रहस्यवाद में शरण ढूँढता है। मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी रहस्यवाद के सम्बन्ध में चाहे जो कहें, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी देशों में इस प्रकार के असाधारण संस्कार-सम्पन्न व्यक्ति हुए हैं, जिनमें रहस्यवादी तन्मयता के कारण आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए, जो प्रबल आशा और अदम्य श्रद्धा का दीप जलाकर प्रियतम का पथ आलोकित करते रहे। बृहदारण्यक उपनिषद में शहद के माधुर्य की अनेक वस्तुओं से तुलना की गई है; किन्तु आत्म-दर्शन के आनन्द को सब प्रकार के शहद अथवा दुनिया की किसी भी अन्य वस्तु से मधुरतर कहा गया है।

कुछ आलोचक ऐसे हैं, जो रहस्यवाद की विभिन्न श्रेणियों अथवा अवस्थाओं का विवेचन करते हैं। पाश्चात्य आलोचकों ने जाग्रति, आत्म-शुद्धि, आत्म-प्रकाश, अन्धकार, अन्तर्मुखी वृत्ति, मिलन की अवस्था—इस प्रकार रहस्यवादियों की क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की तीन स्थितियों का उल्लेख किया है—(१) ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए तत्परता, ईश्वर की विभूतियों को देखकर चकित होना, (२) आत्मा का परमात्मा से प्रेम करने लगना, आत्मा में एक प्रकार का उन्माद या पागलपन, तथा (३) आत्मा और परमात्मा का एकीकरण। पर रहस्यवाद की अवस्थाओं का इस प्रकार का वर्गीकरण कृत्रिमता लिये हुए

है, क्योंकि हरएक रहस्यवादी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह निश्चित रूप से इन अवस्थाओं में से होकर ही आगे बढ़ेगा; किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण विषय के स्पष्टीकरण के लिए अवश्य उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रहस्यवादियों के जीवन को दृष्टि में रखते हुए हम रहस्यवादी अनुभूति के कुछ रूपों का उल्लेख कर सकते हैं—सौन्दर्य अथवा भव्यता की उदात्त अनुभूति; संगीत की तन्मयता का आनन्द ; प्रकृति के साथ दिव्य साहचर्य ; किसी सत्य का आकस्मिक साक्षात्कार ; प्रेम की जाग्रति; कर्त्तव्य-पालन में जीवन की उच्च नैतिक धरातल पर स्थिति। रहस्यवाद की परिभाषा के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होगी और सर्वथा निर्दोष परिभाषा का बन सकना भी शायद सम्भव न हो। प्लॉटीनस ने 'केवल की केवल के प्रति उड़ान को' रहस्यवाद का नाम दिया है किन्तु सबसे सरल और महत्त्वपूर्ण परिभाषा शायद स्पर्जन की है। "Mysticism is in truth a temper rather than a doctrine; an atmosphere rather than a system of philosophy." अर्थात् रहस्यवाद वस्तुतः एक प्रकार की मनोदशा है, सिद्धान्त नहीं; एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन-पद्धति नहीं।

: ९ :

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद

प्राचीन भारतवर्ष में भी भौतिकवाद का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात न थी। लोकायत-दर्शन, चार्वाक-दर्शन और बार्हस्पत्य-दर्शन आदि भौतिकवादी दर्शन ही थे। जैन लेखक हरिभद्रसूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'षड्दर्शनसमुच्चय' में भौतिकवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का इस प्रकार परिचय दिया है—

"लोकायतों के मत में न ईश्वर है और न मोक्ष। न धर्म अधर्म कोई वस्तु है, और न पुण्य-पाप का फल। यह संसार केवल उतना ही है जितना इंद्रियों को प्रतीत होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन तत्त्वों के सिवा संसार में और कुछ नहीं है। इन्हीं की चेतनता उत्पन्न हो जाती है। इनके अस्तित्व में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। जब पृथ्वी आदि भूतों के समुदाय से शरीर बन जाता है तो उसमें चेतना ऐसे उत्पन्न हो जाती है जैसे कि शराब के कणों में नशा उत्पन्न करने की शक्ति। अतएव दृष्ट पदार्थों और सुखों की अव-हेलना करके अदृष्ट पदार्थों और सुखों की ओर प्रवृत्ति रखना चार्वाकों के मत में लोगों की मूर्खता है। खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ। जो गया सो गया, मरकर कोई वापिस नहीं आता। शरीर में भौतिक तत्त्वों के समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

ऊपर के उद्धरण में जड़ भूतों में अपने आप चेतना उत्पन्न होने की बात कही गई है जो आपाततः विरोधात्मक दिखलाई पड़ती है किन्तु आज के विज्ञान ने इस विरोधाभास को दूर कर इसकी सत्यता भली भाँति सिद्ध कर दी है। भूविज्ञानविशारदों के मतानुसार पृथ्वी पहले एक आग के गोले के समान थी। युगों के बाद जब पृथ्वी ठण्डी हुई, तब कहीं इस पर जीवन का प्रारम्भ हुआ। इससे स्पष्ट है कि जड़ भूत की सत्ता पहले थी, विकास-परम्परा के क्रम में चेतनता का आगमन बाद में हुआ।

पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शन का प्रारम्भ वास्तव में डेमाक्रिटस से होता है।

उसके मतानुसार अणुओं की गति के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। स्वयं आत्मा भी सूक्ष्म अणुओं से ही निर्मित है। अणुओं के संयोग और स्पन्दन को ही हम जीवन कहते हैं, उनके विच्छिन्न हो जाने का नाम ही मृत्यु है।

भौतिकवादी सिद्धान्तों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रीस में पहले डायलेक्टिक शब्द का प्रयोग सत्य पर पहुँचने की उस पद्धति के लिए होता था जिसमें दो विरोधी दल वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन द्वारा अपने-अपने पक्षों का समर्थन करते थे। किन्तु हीगल के लिए 'डायलेक्टिक' उस पद्धति का पर्याय हो गया जिसके द्वारा उत्पत्ति, परिवर्तन और विकास के सिद्धान्त को भली भाँति समझा जा सकता है। अण्डे की स्थिति पर विचार कीजिए। पहले हम उसे जिस हालत में देखते हैं, वह हालत हमेशा नहीं रहेगी। उसी में परिवर्तन के बीज निहित हैं जो इसका रूपान्तर कर डालते हैं। इस रूपान्तर का अर्थ ध्वंस या विनाश नहीं है, इससे तो एक सजीव वस्तु की उत्पत्ति हो जाती है। १८वी शताब्दी के अन्त तक विश्व तथा सामाजिक संस्थाओं की कल्पना शाश्वत स्थिति के रूप में की जाती थी किन्तु फ्रांस की राज्य-क्रांति, औद्योगिक क्रान्ति तथा उत्पत्ति, स्थिति और लय की रूपरेखा को स्पष्ट करने वाले वैज्ञानिक सिद्धान्तों की उद्भावना होने के बाद विचारों के क्षेत्र में भी बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। सभी वस्तुओं को निरन्तर गतिशील एक प्रवाह के रूप में देखा जाने लगा। इसके लिए एक नूतन तर्क-पद्धति की आवश्यकता थी जो हीगल द्वारा पूरी हुई। सामान्य तर्क-पद्धति में तो द्वन्द्वों (Contradictions) का बहिष्कार मिलता है। एक ही वस्तु है भी और नहीं भी है, इस प्रकार की कल्पना के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। 'क' की एक स्थिति हम देखते हैं। किन्तु 'क' क्षण-क्षण बदल रहा है इसलिए उसका प्रतिस्थिति (antithesis) की हालत में आना अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से 'क' है भी और नहीं भी है। फिर इस प्रतिस्थिति में भी परिवर्तन होता है और समन्वय (Synthesis) की स्थिति आती है। सामान्य तर्क-पद्धति में गतिशीलता नहीं है। हीगल की तर्क-पद्धति गतिशीलता को लेकर ही आगे बढ़ती है। इस चराचर सृष्टि में क्षण-क्षण पर परिवर्तन होता रहता है।

यह कभी स्थिर नहीं रहती। यह वस्तुतः जगत् है जिसका अर्थ ही है गतिशील। जमीन में बीज बोया जाता है किन्तु वह अपनी कायापलट करके ही वृक्ष का रूप धारण करता है। विद्यार्थी-अवस्था में मार्क्स महान् जर्मन दार्शनिक हीगल के दर्शन-शास्त्र से प्रभावित हुआ। उसने हीगल की इस विचार-पद्धति को तो ग्रहण किया किन्तु हीगल के निरपेक्ष ब्रह्म की कल्पना को उसने अस्वीकृत किया। Das Capital के दूसरे संस्करण में मार्क्स ने लिखा है, 'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल की पद्धति से केवल भिन्न ही नहीं है; वह उसके ठीक विपरीत है। हीगल की दृष्टि में तो विचार ही प्रधान है और यह वास्तव जगत् उसी का बाह्य रूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में बाह्य जगत् ही प्रमुख है।' हीगल जैसे अपने सिर पर खड़ा हो और मार्क्स ने उसे जमीन पर ला खड़ा किया। मार्क्स के विचारानुसार आर्थिक कारणों द्वारा ही इतिहास की व्याख्या की जा सकती है, निरपेक्ष ब्रह्म को लेकर नहीं। दूसरे जर्मन दार्शनिक Feurbach फायरबाख (१८०४-१८७२) का भी मार्क्स पर प्रभाव पड़ा। हीगल के मतानुसार तो आदर्श ('आइडिया') से ही संसार की उत्पत्ति होती है; Feurbach की मान्यता थी कि परमात्मा का नहीं, सृष्टि विकास की परम्परा में सबसे पहला स्थान प्रकृति का है, और प्रकृति जड़भूत के अतिरिक्त कुछ नहीं। उसने प्रतिपादित किया कि परमात्मा ने मनुष्य को नहीं बनाया, मनुष्य ने ही परमात्मा की सृष्टि की है, और मनुष्य प्राकृतिक विकास की एक शृंखला ही तो है। किन्तु मार्क्स और फायरबाख के दृष्टि-भेद को भी भली भाँति समझना चाहिए। मार्क्स मनुष्य को मात्र यन्त्र मान कर ही आगे नहीं बढ़ता क्योंकि मनुष्य में चेतना भी तो है और इस चेतना का निरूपण ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ही किया जा सकता है। मनुष्य केवल वातावरण का परिणाम है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वातावरण भी तो मनुष्यों द्वारा बदला जा सकता है। हीगल और फायरबाख़ दोनों ही ने ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों की अवहेलना की जिससे उनकी व्याख्या में त्रुटियाँ रह गईं।

मार्क्स और ऐंगेल्स के लेखों के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का निर्देश किया जा सकता है—

१. **अवधारण सिद्धान्त अथवा नियतवाद**—यद्यपि संसार में आकस्मिक घटनाएँ घटित होती हुई देखी जाती हैं जिनके आधार पर भारतीय शास्त्रों में काकतालीय जैसे न्यायों की कल्पना कर ली गई है किन्तु किसी भी वस्तु का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए यह मानना होगा कि सारा विश्व किसी नियम के अधीन है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतानुसार वैज्ञानिक उन्नति की किसी सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं किया जा सकता। आदर्शवादी दार्शनिक जिस प्रकार अज्ञेयवाद को लेकर चलते हैं, वैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वाले नहीं। यह तो सच है कि बहुत सी चीजें अभी अज्ञात हैं और सम्भवतः भविष्य में भी अज्ञात रहेंगी किन्तु मूलतः कोई वस्तु अज्ञेय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुएँ अज्ञात तो हैं किन्तु अज्ञेय नहीं। भौतिकवादी दर्शन की विश्व को यह बड़ी भारी देन है कि वह अज्ञेयवाद को लेकर आगे नहीं बढ़ा, नहीं तो विज्ञान के क्षेत्र में अब तक विश्व ने जो उन्नति की है, वह कभी सम्भव न हो पाती।

२. **गुणात्मक परिवर्तन**—सामान्य नियम तो केवल यन्त्र की तरह यह बताकर रह जाता है कि समान कारणों से समान परिणामों की उत्पत्ति होती है। जैसा कारण, वैसा ही फल। किन्तु इस विशाल विश्व की विविधताएँ और विकास को देखकर इतना कह देने से ही काम नहीं चलता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस बात में विश्वास करता है कि परिणामगत विभिन्नताओं से गुणों में भी परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के नियम मिलते हैं जो एक विशेष क्षेत्र के लिए ही लागू होते हैं, दूसरे नियमों को जन्म देते हैं किन्तु फिर भी वे दूसरे नियम अपना स्वतन्त्र विकास करते हैं। भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त, चराचर सृष्टि के लिए लागू होते हैं किन्तु जीव-विज्ञान के सिद्धान्त यद्यपि भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों पर ही आश्रित रहते हैं, तथापि वे बिलकुल अलग हैं। इसी प्रकार जीव-विज्ञान के सिद्धान्त सभी जीवधारियों के लिए लागू होते हैं किन्तु मनोविज्ञान के सिद्धान्त, जो जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित हैं, जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों से नहीं निकाले जा सकते।

३. **क्षणिकवाद**—बौद्धों के क्षणिकवाद की तरह मार्क्स भी इस बात में विश्वास करता था कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण में बदलती है; वस्तु ही नहीं, हमारे विचार और निष्कर्ष भी कालान्तर में दूसरा रूप धारण कर लेते हैं।

यह अवश्य है कि सामाजिक विचारधाराएँ प्राकृतिक परिस्थितियों की अपेक्षा जल्दी बदलती हैं तथा हमारे मानसिक सम्बन्धों में सामाजिक विचारधाराओं की अपेक्षा भी द्रुत गति से परिवर्तन होता है। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से पहली शताब्दी के बाद तक ग्रीस की आबहवा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ यद्यपि इस युग में महान् सामाजिक परिवर्तन हुए।

४. **क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त**—वातावरण ही मनुष्य को प्रभावित नहीं करता; मनुष्य भी वातावरण को प्रभावित करता है।

५. **अर्थमूलकवाद**—सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के मूल में आर्थिक कारण है। चाणक्य ने भी "अर्थमूलौ धर्मकामौ" कहकर आर्थिक परिस्थितियों के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु अर्थ ही एकमात्र कारण नहीं है। प्रकृति, समाज और मनुष्य की बुद्धि, इन सब की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। सामाजिक और प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं और परिस्थितियों के अनुरूप ही मनुष्य उनको कार्य के रूप में परिणत करता है। विकास के इस क्रम में भूतकाल से पूर्णतः विच्छेद नहीं होता। कुछ नष्ट होता है, कुछ बनता है। इस प्रकार भूतकाल भी विकास को प्राप्त होता है। भूतकाल वस्तुतः भूत नहीं हो जाता, वह भी किसी न किसी रूप में वर्तमान काल में चलता रहता है। भूतकाल बदलते-बदलते इतना बदल सकता है कि वह पहचाना ही न जा सके।

६. **ऐतिहासिक भौतिकवाद**—एंगेल्स के शब्दों में "राजनीतिक क्रांतियों के कारण" मनुष्यो के मस्तिष्क में नही ढूँढे जा सकते, न यह कहा जा सकता है कि शाश्वत सत्य की विशद अनुभूति से यह संभव हो सका, किन्तु उत्पत्ति और विनिमय की पद्धति के परिवर्तन में ही इन कारणों का अनुसन्धान किया जा सकता है। वे दर्शन-शास्त्र में नहीं किन्तु युग-विशेष के अर्थशास्त्र में ढूँढने से मिलेंगे। इस प्रकार इतिहास की व्याख्या का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उपस्थित करता है। यह सच है कि आबहवा, भूगर्भ की स्थिति, भूमि आदि के कारण भी सामाजिक कार्य होते हैं किन्तु संस्कृति के विकास को समझाने में ये असमर्थ हैं। पहली बात तो यह है कि आबहवा आदि में, जैसा ऊपर बतलाया गया है, युगों तक परिवर्तन नहीं होता किन्तु सामाजिक

स्थिति परिवर्तनशील है। कोई भी वस्तु शून्य में स्थिर नहीं रह सकती। सांस्कृतिक विकास को समझने के लिए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना अनिवार्य है। संस्कृति का प्रत्येक अंग परस्पर संश्लिष्ट है। कानून, शिक्षा, धर्म, कला आदि स्वतः नहीं समझे जा सकते। सामाजिक प्रसंग को लेकर ही इनकी पूरी व्याख्या की जा सकती है। संस्कृति केवल परस्पर सम्बद्ध ही नहीं है, संस्कृति विकासशील भी है। हीगल की धारणा थी कि राजनीतिक इतिहास, शासन-पद्धतियाँ, कला, धर्म, दर्शन-शास्त्र सभी के मूल में वही एक सामान्य बात मिलती है अर्थात् काल-धर्म। इसके विपरीत मार्क्स की मान्यता थी कि इन सबके मूल में जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं जो काल-धर्म को बदलती रहती हैं।

समाज के वर्गों में विभक्त होने से एक वर्ग दूसरे वर्ग पर अपनी सत्ता जमाता है और राजनीति, आचार, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में विभिन्न विचार-धाराओं का जन्म होने लगता है। जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन होते हैं, चर्च, प्रेस, स्कूल आदि प्रकाशन के साधन भी उसी के हाथ में होते हैं, इसलिए उसी वर्गविशेष के विचार महत्त्वपूर्ण विचार समझे जाते हैं। विश्व का सारा इतिहास वास्तव में वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है। एक वर्ग के पास उत्पत्ति के साधन होने से दूसरे वर्ग को कष्ट सहन करना पड़ता है, इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के नष्ट होने से ही वर्ग-संघर्ष दूर हो सकता है।

७. **सिद्धान्त और व्यवहार की एकता**—यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की महत्त्वपूर्ण वस्तु है। मनुष्य, प्रकृति तथा इतिहास की समस्याओं को सुलझाने के लिए ही सिद्धान्त का जन्म होता है। व्यवहार ही सिद्धान्त का प्राण है। कोई सिद्धान्त सच्चा है या नहीं, इसको जानने की सबसे अच्छी कसौटी यह है कि वह व्यवहार में कैसा रूप धारण करता है। जो सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है, वह विद्वानों के तर्क-वितर्क का विषय है, उसकी क्रियात्मक उपयोगिता कुछ नहीं। एँगेल्स तो बहुधा कहा करता था कि हलुए का पता खाने ही से चल सकता है।

प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए जिस प्रकार डार्विन ने बाइबिल के सृष्टि-रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों को अमान्य ठहराया उसी प्रकार मार्क्स ने समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए नंदन-वन का स्वर्णिम

स्वप्न देखने वाले सभी आदर्शवादियों के काल्पनिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात किया। आदर्शवादी दार्शनिकों ने मनुष्य के स्वभाव को बुराई से भलाई की ओर ले जाने का प्रयत्न किया किन्तु वे यह भूल गये कि आर्थिक विकास के किसी युग-विशेष के अनुसार ही मनुष्य का स्वभाव बदलता है। दूसरे दार्शनिकों ने जगत्, ईश्वर, आत्मा आदि की आध्यात्मिक व्याख्या की किन्तु मार्क्स ने जगत् की परिस्थितियों में ही आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। वह सभी देशों के श्रमजीवियों का संगठन करना चाहता था। वह उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्था से क्षुब्ध था और उन्हें पूँजीपतियों के अत्याचार से मुक्त करना चाहता था। उसने इस बात का अनुभव किया कि परिवर्तन उपस्थित करने के लिए किसी जादू से काम नहीं लिया जा सकता। सामाजिक पद्धति में तो तभी परिवर्तन सम्भव है जब कि उसकी आर्थिक नींव ही हिला दी जाय जिस पर वह प्रतिष्ठित है। उत्पत्ति ही वास्तव में इतिहास की रीढ़ है। उत्पत्ति की पद्धति में परिवर्तन किये बिना कुछ नहीं हो सकता। पूँजीपतियों ने उत्पत्ति के साधनों पर कब्जा कर रखा है, इसलिए प्रतिस्थिति (antithesis) के रूप में ऐसे श्रमजीवी वर्ग का जन्म हुआ है जिसके पास पूँजी नहीं है। पूँजी और श्रम-संघर्ष के परिणामस्वरूप समन्वय (Synthesis) की वह स्थिति अवश्यम्भावी है जिसमें वर्ग-रहित समाज की स्थापना हो सकेगी। अनेक कठिनाइयों और संघर्षों के बीच मार्क्स का जीवन बीता। उसका विश्वास था कि श्रम से ही मूल्य की उत्पत्ति होती है, पूँजीपति के पास जो कुछ है, वह शोषण का द्रव्य है। इस शोचनीय स्थिति में परिवर्तन करने के लिए पुराने दर्शन-शास्त्रों से काम नहीं चल सकता। प्रूधों ने 'दरिद्रता के दर्शन' पर पुस्तक लिखी थी। मार्क्स ने इस नामकरण को उलटकर 'दर्शन की दरिद्रता' के दर्शन कराये। मार्क्स से किसी ने पूछा—कामरेड, मुझे आश्चर्य है कि तुम जो जीवन-भर संघर्ष करते रहे हो, इतने धैर्यशाली भी हो सकते हो। उत्तर में मार्क्स ने कहा—जितने समय तक मैं अधीर रहा, उतने समय तक जब तुम बेचैन रह लोगे, तब तुम्हें मेरे धैर्य पर आश्चर्य न होगा। वस्तुतः मार्क्स का सम्पूर्ण जीवन ही संघर्ष का जीवन रहा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त भी जैसे संघर्ष से ही उत्पन्न हुआ है।

भौतिकवाद और हेतुवाद ने और चाहे जो किया हो, किन्तु इतना निश्चित

है कि छोटे से छोटे वैज्ञानिक आविष्कार से लेकर परमाणु बम तक जितनी भौतिक उन्नति विज्ञान के विविध क्षेत्रों में हो पाई है, वह कभी सम्भव न होती, यदि सभी का दृष्टिकोण अध्यात्मवादियों का-सा दृष्टिकोण होता। तर्क और बुद्धि के आधार पर किए गए प्रयोगों के सामने किस प्रकार प्रकृति अपना हृदय खोल देती है, इसका अच्छा निदर्शन वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मिल जाता है। भौतिकवाद ने जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों को जन्म दिया, वहाँ साथ ही साथ चिरकाल से चली आती हुई परम्परागत रूढ़ियों, भ्रान्त धारणाओं और अन्धविश्वासों का निराकरण भी किया। आज का युग ही वास्तव में भौतिकवादी युग है, बौद्धिक विश्लेषण का युग है जहाँ काट-छाँट और कतरब्योंत के बिना काम ही नही चलता। और सच कहा जाय तो अपने को अध्यात्मवादी कहने वाले अधिकांश व्यक्तियों का व्यावहारिक जीवन भी धनोपार्जन और स्वार्थ-साधन में ही प्रवृत्त दिखलाई पड़ता है। धर्म स्वतःसाध्य न रहकर आज छल-छद्म का साधन मात्र रह गया है। यह धर्म की बड़ी भारी विडम्बना है किन्तु सच्चे हृदय से हम इसे स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते।

जो साहित्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दार्शनिक सिद्धान्त में विश्वास करता है और वर्गरहित समाज की स्थापना करना जिसका चरम लक्ष्य है, उसे ही प्रगतिवादी साहित्य का नाम दिया जा सकता है। अक्टूबर १९१७ में रूस में जो क्रान्ति हुई, वह २०वीं शताब्दी की सबसे निराली घटना है। रूस की तो इसने काया ही पलट दी; वहाँ जारशाही के स्थान में समाजवादी शासन की स्थापना हुई। इस क्रान्ति का प्रभाव केवल रूस तक ही सीमित न रहा, दुनिया के अन्य देशों में भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार होने लगा। भारतवर्ष भी मार्क्सवाद के सामाजिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना न रह सका। मार्क्स के समाजवाद में व्यक्ति का स्थान गौण है; सामाजिक परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के कारण ही व्यक्ति का उत्थान अथवा पतन होता है। समाजवादियों का परम ध्येय है वर्गहीन समाज की स्थापना करना जिसमें पूँजीपतियों और श्रमजीवियों अथवा शोषक और शोषितों के दो वर्ग नहीं रह सकेंगे। जिस समाज की नींव शोषण पर खड़ी है, समाजवादी उसके चिथड़े-चिथड़े कर डालना चाहता है

समाजवाद क्रान्ति में विश्वास रखता है और उसके लिए हिंसा का प्रश्रय लेना वांछनीय एवं आवश्यक समझता है। गांधीवादियों की तरह हृदय-परिवर्तन की नीति में उसकी कोई आस्था नहीं। गांधीजी के ट्रस्टीवाद को भी वह नितान्त अविश्वसनीय और मात्र ढकोसला समझता है। वह तो प्रोलेतेरियत (Proletariat)[१] वर्ग में बूर्जुआ (Bourgeois)[२] वर्ग के प्रति प्रतिशोध और प्रतिकार के भाव जागृत करना चाहता है क्योंकि यदि शोषित वर्ग में पूँजीपतियों के प्रति द्वेष और घृणा के भाव जागृत न होंगे तो यह वर्ग हमेशा पददलित ही बना रहेगा।

समाजवादी विचारधारा के अनुसार साहित्य में भी एक चेतना जगी जिसका नाम रखा गया प्रगतिवाद। प्रगतिवाद की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई। "वह साहित्य जो व्यक्ति को संस्कारों से, समाज को व्यक्तियों से और राष्ट्र को अर्थदास्य से मुक्त करता चले, प्रगतिशील साहित्य है।" समाजवादी विचारधारा के अनुसार जो साहित्य किसान, मजदूर, दलित एवं शोषित वर्ग के सुख-दुःख को वाणी देने का दावा करता है, उसे ही प्रगतिवादी साहित्य के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। "निश्चित ही राजनीति के क्षेत्र का समाजवाद साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से विख्यात हुआ।" प्रगतिवाद अंग्रेजी के Progressivism का हिन्दी रूपान्तर भले ही हो किन्तु यह शब्द बहुत ही साभिप्राय और सार-गर्भित जान पड़ता है। जगत् की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, जगत् वास्तव में जगत् (गतिशील) है। गतिशीलता ही जीवन का प्रमुख—प्रमुख क्या, अनिवार्य लक्षण है। जीवन और जड़ता दोनों विरुद्ध-धर्मी हैं जिनकी परस्पर संगति बैठ ही नहीं सकती। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी स्थिति, प्रतिस्थिति और समन्वय की पद्धति को स्वीकार करता है। जो साहित्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृढ़ आधार-शिला पर स्थित है, उसे प्रगतिवाद की संज्ञा देना बहुत ही उपयुक्त है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जहाँ सृष्टि के विकास की व्याख्या करता है, वहाँ उससे साहित्य के विभिन्न युगों के विकास-सूत्र को समझने में भी बड़ी सहायता मिलती है।

---

१. सामान्य जनता या श्रमजीवी वर्ग (फ्रेंच शब्द)

२. इस शब्द का प्रयोग उन पूँजीपतियों के लिए किया जाता है जो पराये परिश्रम पर जीते हैं।

इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के आलोक में हम हिन्दी साहित्य के तीन प्रमुख युगों की विवेचना कर सकते हैं। करीब सन् १९०० से १९२० तक का युग द्विवेदी-युग कहलाता है। द्विवेदीजी ने भाषा को परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत बनाने पर विशेष जोर दिया। यह खड़ीबोली में कविता का प्रारम्भिक काल था, इसलिए रचनाएँ भी अधिकतर इतिवृत्तात्मक अथवा वर्णनात्मक ही रहीं। किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार यह स्थिति हमेशा नहीं रह सकती थी। सृष्टि-विकास का यह व्यापक नियम जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में काम करता है, उसी तरह साहित्य-क्षेत्र में भी। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक कविताओं की प्रतिक्रिया हुई जिसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में छायावाद की अवतारणा हुई। कल्पना के उन्मुक्त पंख फैलाकर कवि नन्दन-वन में स्वच्छन्द विहार करने लगे; कोलाहल की अवनी तजकर उस निर्जन प्रदेश की यात्रा होने लगी जहाँ सागर-लहरी अम्बर के कानों में गहरी प्रेम-कथा कहा करती है; अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख के गीत सर्वत्र गाये जाने लगे, प्रकृति में भी सम्भवतः कुण्ठाओं के परिणामस्वरूप नारी-भावना की अतिशयता के दर्शन होने लगे। हृदय की भावना शत-शत धाराओं में फूट पड़ी। लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति की विविध भंगिमाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं—इतने नए-नए प्रतीक काव्य-क्षेत्र में प्रचलित होने लगे जो दुरूह होते हुए भी कम रमणीय न थे। किन्तु यह कब सम्भव था कि कविगण पृथ्वी पर रहते हुए हमेशा आसमान की ओर ही देखते रहें? जब समाज और काव्य में वैषम्य स्थापित हो गया तो उसकी भी प्रतिक्रिया होने लगी। सन् १९३५ में कुछ भारतीय छात्रों ने जिनमें डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर आदि प्रमुख थे, लंदन के नैनकिंग रेस्टराँ में भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना की। पहली भारतीय कान्फ्रेंस सन् १९३६ में लखनऊ में हुई, जिसके सभापति स्वर्गीय प्रेमचन्दजी थे। सन् १९३८ में जो कान्फ्रेंस कलकत्ते में हुई, उसके सभापति रवि बाबू थे। शुरू में तो जैनेन्द्रजी ने भी इसमें योग दिया किन्तु बाद में वे अलग हो गये। प्रेमचन्दजी राजनीति को लक्ष्य बनाना चाहते थे, जैनेन्द्रजी संस्कृति को।

इस प्रकार कल्पनाशील पलायनवादी साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। न जाने प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया

का क्या रूप हो किन्तु यह निश्चित है कि क्रिया और प्रतिक्रिया का यह सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और प्रगतिवाद के दार्शनिक सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तो यह सुदृढ़ आधार-शिला है।

कोई भी नया वाद जब साहित्य में प्रचलित होता है तो उसे प्रश्नवाचक चिह्न की दृष्टि से देखा जाता है। छायावाद के सम्बन्ध में जो विरोध पहले देखा गया था, वही प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भी देखने में आ रहा है। अनेक प्रकार के आक्षेप इस वाद पर लगाये जाते हैं। प्रगतिवाद सार्वजनिक शाश्वत सत्यों की उपेक्षा करता है, मार्क्सवाद पर आश्रित होने के कारण भारत की आध्यात्मिक भावना के प्रतिकूल है, ईश्वर में विश्वास नहीं करता, इसलिए चार्वाक मत का नवीन साहित्यिक संस्करण है, काम-वासना का नग्न रूप उपस्थित करता है, इसलिए घासलेटी है; हिंसा को प्रश्रय देता है और श्रद्धा की उपेक्षा कर केवल बौद्धिकवाद और आर्थिक कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को परखता है, इसलिए त्याज्य है, इसके समर्थकों में स्वयं अनुभूति नहीं, इसलिए यह पाखंड और ढोंग है; किसानों और मजदूरों तक ही सीमित रहने के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, अतः अमान्य है। केवल क्रान्ति के राग अलापता है, इसलिए हेय है; अतीत को नष्ट-भ्रष्ट कर केवल वर्तमान को महत्त्व देता है, इसलिए अपूर्ण है।

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। छायावादी काव्य का जब निर्माण हो रहा था, तब उसके पीछे कोई सुस्पष्ट दर्शन-पद्धति काम नहीं कर रही थी किन्तु प्रगतिवाद के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। प्रगतिवाद निश्चित रूप से मार्क्सवाद की दर्शन-पद्धति को लेकर चला है, इसलिए एक दृष्टि से देखा जाय तो इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में मतों के वैविध्य की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए थी किन्तु वस्तुस्थिति शायद यह है कि प्रगतिवाद के बहुत से आलोचक तो मार्क्सवाद की पर्याप्त जानकारी किये बिना ही प्रगतिवाद के सिद्धान्तों की विवेचना करने बैठ जाते हैं। पूर्वपक्ष को भली भाँति समझ लेने पर ही उत्तर-पक्ष की सम्यक् स्थापना की जा सकती है। कुछ तथाकथित प्रगतिवादी लेखक भी ऐसे हैं जो ऊलजलूल और ऊटपटाँग रचनाएँ कर प्रगतिवाद को बदनाम करते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिवाद सर्वथा निर्दोष है। कुछ लेखक

तो ऐसे हैं जो पाँच सवारों में अपना नाम लिखाने के लिए कविता के क्षेत्र में आकर डट गये हैं। प्रगतिवाद में छायावाद की पलायन-वृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है। अनंत से मिलने की आकुल अभिलाषा को आज केवल पाखंड समझा जाता है। अनंत को किसने देखा है जिससे साक्षात्कार करने के लिए पागलपन का सहारा लिया जाय? प्रगतिवादी युग में पन्त जैसे कवि ने भी भौतिक शरीर का जयजयकार करते हुए लिखा था—

कहाँ खोजने जाते हो सुन्दरता औ आनन्द अपार।
इस मांसलता में अंकित है सकल भावनाओं का सार।

कलाकार का कर्त्तव्य है कि वह समाज की समस्याओं को सुलझाने में योग दे। केवल कल्पना के स्वप्न-लोक निर्माण करने से आज काम नहीं चल सकेगा। बुद्धिवाद द्वारा ही वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझकर प्राचीन रूढ़ियों और अन्ध-परम्पराओं को नष्ट कर डालना होगा। किसी युग में कलावाद और सत्यं शिवं सुन्दरं के आदर्श को लेकर बहुत कुछ वाग्विस्तार हुआ था किन्तु प्रगतिवादी कवि के स्वर आज बदल गये हैं—

आज सत्य शिव सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित।
सभ्य शिष्ट औ संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।

प्रगतिवादी युग का कवि ही ताजमहल पर निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख सकता था—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन
मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति!!

प्रगतिवाद को श्री शिवदानसिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र जैसे आलोचक भी मिल गये हैं जो प्रगतिवाद का बड़े जोरों से समर्थन कर रहे हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचकों में वह कट्टरता नहीं है जो किसी वाद विशेष को दृढ़ता से पकड़े रहने का आग्रह करती है। वे अपने स्वस्थ साहित्यालोचन द्वारा साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए कूड़े कर्कट को दूर करते हुए देखे जाते हैं। प्रगतिवाद के कवियों में पन्त, दिनकर, नरेन्द्र,

अंचल आदि प्रमुख हैं। अंचलजी तो 'समाज और साहित्य' द्वारा प्रगतिवाद के विचारक के रूप में भी हमारे सामने आये हैं।

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न सहज ही उठ खड़े होते हैं। प्रगतिवादी कवियों को प्रत्येक बात में क्या रूस का अन्धानुकरण करना चाहिए ? रूस से हमारी परिस्थितियाँ बहुत कुछ भिन्न हैं, इसलिए हमारे समाजवाद और प्रगतिवादी साहित्य की रूपरेखा क्या भारत के अनुरूप न होगी ? गांधीवाद ने भारतवर्ष को बहुत कुछ दिया है, हिन्दी साहित्य पर भी उसका बहुत कुछ प्रभाव है। क्या गांधीवाद और समाजवाद के समन्वय का कोई रूप खड़ा किया जा जकता है ? प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्स और फ्रायड क्या कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चल सकते ? इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिवाद में घोर शृङ्गारिकता का आश्रय लिया जाय। काम-भावना का भी क्या इस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता जिससे हमारी विकृत वासनाओं को उत्ते-जन न मिले ? कामायनी में प्रसाद ने काम का जो व्यापक चित्र खींचा है क्या वह आधुनिक कवियों के लिए पदार्थ-पाठ का काम नहीं दे सकता ? इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवाद की भी अपनी सीमाएँ हैं किन्तु यह निःसंकोच स्वीकार करना होगा कि सामाजिक चेतना जाग्रत करने में प्रगतिवाद ने बड़ा भारी योग दिया है। व्यक्तिवाद से समाज की ओर हमारी दृष्टि उन्मुख कर प्रगतिवाद ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है किन्तु एक बात पर जोर देना आवश्यक जान पड़ता है। प्रगतिवाद यदि एक काव्यधारा है तो उसे काव्य का आवरण धारण करना होगा। गद्यात्मकता और नीरसता से ऊपर उठना होगा। भावावेश से प्रेरित होने पर ही सच्ची कविता का निर्माण हो सकता है। यह सच है कि बौद्धिक सहानुभूति के द्वारा भी प्रतिभाशाली कवि सुन्दर काव्य-रचना कर सकते हैं किन्तु अपनी भावनाओं को पाठकों तक प्रेषित करने के लिए कवियों को अनुभूति का आश्रय लेना होगा। छायावाद को प्रसाद जैसा महिमाशाली कवि प्राप्त हुआ, क्या प्रगतिवाद की वाणी को भी स्वर देने के लिए ऐसा कोई समर्थ कवि प्रकट होगा ?

: १० :

साहित्य में स्वच्छन्दतावाद

सौन्दर्य, प्रेम, काव्य आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो आसानी से पकड़ में नहीं आते। युगों से इन शब्दों की व्याख्या होती रही है किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी परिभाषा, इनकी व्याख्या सर्वांशतः पूर्ण है और कदाचित् हमेशा अपूर्ण रहेगी। 'रोमांटिसिज्म' भी एक ऐसा शब्द है जिसे स्वच्छंदतावाद, वैचित्र्यवाद आदि अनेक शब्दों से अभिहित करने का प्रयत्न किया गया है। इस एक शब्द का स्मरण करते ही अनेक भावों की भीड़ एक साथ दौड़ी चली आती है। इससे इस शब्द की गरिमा एवं गम्भीरता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। नितान्त स्पष्टता तो सामान्य वस्तु में ही मिल सकती है, महान् विचार तो अस्पष्ट ही रह जाता है। किसी स्थूल वस्तु का चित्रण तो आसानी से हो सकता है किन्तु मनुष्य के हृदय में जो भावों का समुद्र उमड़ा करता है, उसकी थाह कोई कैसे ले? उसके सम्बन्ध में तो नेति-नेति-पद्धति का ही अवलम्बन करना पड़ता है।

रोमांटिक पुनरुत्थान

अंग्रेजी साहित्य में १८वीं शताब्दी को बौद्धिक युग का नाम दिया गया है। इस युग के काव्य में मस्तिष्क की प्रेरणा ही प्रधान थी और भावानुभूति की आन्तरिकता, जो सच्चे काव्य का प्राण है, अत्यन्त विरल। शब्दाडम्बर से आच्छादित होने के कारण भावनाओं को भली भाँति साँस लेने का भी अवसर नहीं मिलता था। १८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ब्लेक, बर्न्स, ग्रे, कॉलिन्स आदि कवियों ने इसके विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाया। इसके बाद वर्ड्स्वर्थ और कॉलरिज ने 'लिरिकल बैलेड्स' प्रकाशित करके जो युगान्तर उपस्थित किया, वह अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक पुनरुत्थान के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने घोषणा की कि कवि-कल्पना में मस्तिष्क की प्रधानता नहीं, हृदय की प्रधानता है। रोमांटिक युग के कवियों ने गगन की नीलिमा और नक्षत्रों में संगीत की

ध्वनि सुनी, विस्मयविमुग्धकारी शैशव का चित्रण किया, कृषक-जीवन की असीम शान्त महिमा का दिग्दर्शन कराया, स्वर्णिम अतीत के आकर्षण और प्रकृति की सुषमा का मनोहारी रूप सामने रखा।

अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक युग के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन कारणों का निर्देश किया जा सकता है—(१) रूसो का विद्रोहात्मक जीवन-दर्शन, (२) जर्मनी के काण्ट और हीगल द्वारा प्रवर्तित अतीतवाद (Trunscendentalism)—और (३) फ्रांस की राज्य-क्रान्ति। इन विचारकों की कृपा से मानव ने एक नितान्त नूतन दृष्टि से संसार को देखा। प्रेम की अतुल शक्ति, साम्य तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद के भावों ने जोर पकड़ा तथा प्रकृति और मानव के विभिन्न सम्बन्धों का काव्यगत प्रत्यक्षीकरण कराया गया।

सर्वसम्मत व्याख्या का अभाव

रोमांटिसिज्म की परिभाषा देना तो एक दृष्टि से विफल प्रयास ही कहा जायगा। कुछ आलोचक स्वातन्त्र्य-भाव और प्रकृति के प्रत्यावर्तन में ही रोमांटिसिज्म का दर्शन करते हैं, कुछ अतिप्राकृत (सुपरनेचुरल) आनन्द को ही रोमांटिक भावना समझते हैं—किसी किसी के मत से स्वर्णिम अतीत के आह्वान में, बन्धनों को तोड़ डालने में, अन्ध-परम्पराओं, जराजीर्ण रूढ़ियों तथा पुराणपन्थी मनोवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह करने में ही रोमांटिक भावना अपना स्वरूप प्रकट करती है। वाट्स डंटन विस्मय-भाव की नव-जाग्रत चेतना में रोमांटिसिज्म के दर्शन करते हैं तो पेटर सुन्दर और अद्भुत के सम्मिश्रण को रोमांटिक भावना का नाम देते हैं। हरफोर्ड ने कल्पना-प्रवणता के असाधारण विकास को रोमांटिक कविता का प्रमुख लक्षण ठहराया है। जिसमें कल्पना का अभाव है, वह सामान्य वस्तु को विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से देख नहीं पाता। कल्पना-शक्ति के विकास के कारण ही पन्तजी ने छाया जैसी सामान्य वस्तु का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है—

कहो कौन तुम दमयन्ती सी, इस तरु के नीचे सोई ?
आह ! तुम्हें भी छोड़ गया क्या अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

कल्पना के अभाव में सुन्दर और अद्भुत का ग्रन्थिबन्धन क्षण भर के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता। अतीत के आह्वान और सुन्दर भविष्य के स्वप्न देखने में भी कल्पना के नेत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। कल्पना के बल से ही वर्ड्स्वर्थ साधारण वस्तु को असाधारण गौरव प्रदान कर सके। कल्पना के बल से ही कीट्स और स्कॉट अतीत का मधुर आह्वान कर सके, कल्पना के बल से ही शेली भविष्य का सुखद स्वप्न देख सके, कल्पना के बल से ही कॉलरिज अति-प्राकृत को भी सम्भाव्य वस्तु के रूप में उपस्थित कर सके। इस दृष्टि से रोमांटिक काव्य में सर्वत्र कल्पना का जयजयकार दिखाई पड़ता है। यदि रोमांटिसिज्म की परिभाषा ही देनी हो तो कहा जा सकता है कि रोमांटिसिज्म वह काव्यधारा है जिसमें विस्मय और सौन्दर्य से विमुग्ध कल्पना के बल से स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह दिखाई पड़ता है।

रोमांटिक और क्लासिक काव्य

रोमांटिसिज्म के साथ-साथ क्लासिसिज्म पर भी दो शब्द कहना आवश्यक है। क्लासिसिज्म को शिष्टवाद, संयतवाद आदि की संज्ञा दी गई है क्योंकि रोमांटिक कल्पना जहाँ चित्त को उद्वेलित करती है, वहाँ क्लासिक कल्पना चित्त को संयत रखती है। एक में नियमों को तोड़ डालने का आग्रह है तो दूसरी में नियमों से चिपटे रहने का। एक के स्मरण मात्र से जहाँ उत्तेजना, विद्रोह, अशांति, प्राणोन्माद आदि सामने आते हैं वहाँ दूसरी के स्मरण से प्रशान्ति और संयम के भावों का प्रत्यक्षीकरण होता है; किन्तु इसका यह अर्थ न समझा जाय कि रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म परस्पर नितान्त विरोधी धाराएँ हैं। कल्पना और बुद्धि दोनों ही मानव की चिरन्तन वृत्तियाँ हैं। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—के सिद्धान्तानुसार हम बुद्धि-वृत्ति की प्रधानता के कारण एक कवि को क्लासिक कह देते हैं और कल्पना-प्राचुर्य के कारण दूसरे को रोमांटिक का नाम दे देते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि क्लासिक कभी रोमांटिक होता ही नहीं। क्लासिक कवियों के काव्य में भी यत्र-तत्र रोमांटिक भावना देखी जाती है किन्तु रोमांटिक भावना की प्रधानता न होने के कारण हम उन्हें रोमांटिक कवि नहीं कहते। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में यद्यपि रोमांटिक भावना की भी कमी नहीं है किन्तु फिर भी

उनके समस्त काव्यों को पढ़ जाने पर कवि का जो संश्लिष्ट चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है, वह रोमांटिक कवि का नहीं, क्लासिक का ही है।

रोमांटिक काव्यधारा और हिन्दी की छायावादी काव्यधारा में बहुत कुछ समानताएँ हैं जिनका विवेचन किसी दूसरे लेख में किया जायगा।

: ११ :

गीति-काव्य और उसके भेद

कोकिल जब मस्त होकर गाने लगती है तब उसका कण्ठ हिलने लगता है, वर्षाऋतु में काले-काले सजल बादलों को देखकर जब मयूर नृत्य करने लगता है तो उसके पैर थिरकने लगते हैं—इसी प्रकार कवि जब अपने भावावेग को सफलतापूर्वक कागज पर उतार पाता है तो उसके कलेवर में उसके हृदय की धड़कन, उसकी आत्मा का स्पन्दन स्पष्ट सुनाई पड़ता है जिसमें कभी आनन्द की ऊर्मियाँ कल्लोल करती हैं तो कभी वेदना तड़पती है, कचोटती है। ऐसे ही वातावरण में गीति-काव्य का प्रादुर्भाव होता है। मीरा का प्रत्येक पद उसके हृदय की ही मार्मिक व्यथा का दर्पण है। वियोग का वर्णन करने वाले सूरदास का भी प्रत्येक पद जैसे एक गोपी का हृदय है जिसमें वियोग की भीषण ज्वाला धधक रही है, मातृ-हृदय का चित्रण करने वाले सूरदास के पदों में भी मानो माता के हृदय का स्पन्दन स्पष्ट सुनाई देता है। (१) कोइ कहियो रे पिय आवन की, (२) मधुवन तुम कत रहत हरे, (३) सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग, आदि पदों को पढ़कर कौन यह कहने का दुस्साहस कर सकता है कि इनमें एक सजीव हृदय नहीं बोल रहा है? गीति-काव्य में शब्दों की जड़ता हृदय से अनुप्राणित होकर सजीव हो उठती है। गीति-काव्य मुख्यतः भावावेग की ही प्रबल अभिव्यक्ति है। कहा जाता है कि प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य जब आनन्द-विभोर हो उठते थे तो उनका आनन्द अस्पष्ट ध्वनियों में नृत्य कर उठता था। वसन्त ऋतु की सहज सुषमा को देखकर कोकिल का मादक संगीत अनायास मुखरित हो उठता है। अनायास निकले हुए संगीत में जो स्वाभाविकता, जो प्रवाह, जो प्रभावोत्पादकता देखी जाती है वह कृत्रिम रचना में कहाँ?

लायर (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र पर जो गाया जा सके, उसे ही ग्रीक साहित्य में पहले-पहल लिरिक का नाम दिया गया था किन्तु आजकल सुगेयता

गीति-काव्य का अनिवार्य लक्षण नहीं रह गया। यदि कोई कवि अपने भावावेश का इस प्रकार परिमित शब्दों में चित्रण कर सके कि उन शब्दों के माध्यम द्वारा पाठकों को भी कवि हृदय का साक्षात्कार हो जाय तो गीति-काव्य की दृष्टि से ऐसा प्रयास सफल कहा जायगा। गीति-काव्य में जिस भावावेश का चित्रण होता है, वह कितना ही व्यक्तिगत क्यों न हो, यदि उसका बडी सचाई से चित्रण हुआ है तो वह सार्वजनीन रूप धारण कर लेता है क्योंकि भाव की ऊर्मियाँ तो प्रत्येक हृदय-समुद्र में उठा करती हैं। कोई भी वाद चाहे साहित्य में प्रचलित हो जाय, जब तक मनुष्य हृदयसम्पन्न प्राणी है, वह वासना रूप से स्थित भावों द्वारा सदा उद्वेलित होता रहेगा।

भावावेश जितना ही उत्कट होगा, गीति-काव्य भी उतना ही लघुकाय होगा। इसका अर्थ यह तो नहीं है कि कोई भी कवि लम्बा गीत लिखने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु भावावेश क्योंकि बहुकालव्यापी नहीं रहने पाता, सामान्यतः गीति-काव्य में भी बहुत विस्तार अवांछनीय है। अंग्रेजी साहित्य में जो चित्रवाद अथवा मूर्तिविधानवाद की धारा (Imagism) चली, उसके अनुसार तो लघुकाव्य को ही काव्य का आदर्श माना गया। यदि एक शब्द में ही काव्य का निर्माण हो सके तो वह आदर्श की दृष्टि से तो सर्वोत्कृष्ट कहा जायगा—व्यावहारिकता की दृष्टि से चाहे जो कहा जाय। लम्बी कविता में अनिवार्यतः बहुत से नीरस स्थल आ जाते हैं, इधर-उधर कुछ सरसता आ गई तो क्या? इसका अर्थ यह तो नहीं है कि कोई भी कवि लम्बा गीति-काव्य लिखकर सफलता प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु भावावेश के बहुकालव्यापी न रहने के कारण गीति-काव्य भी बहुत विस्तार नहीं ग्रहण कर पाता। भाव की एकरूपता भी गीति-काव्य के लिए आवश्यक है। एक-रूपता के अभाव में गीति-तार छिन्न-भिन्न हो जाता है जिससे रसास्वाद में व्याघात उपस्थित होता है।

गीति-काव्य का परिपाक प्रायः करुणा में ही देखा जाता है। सम्भवतः इस जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा कहीं अधिक है। बच्चा जब संसार में आता है तो रोता हुआ आता है और महाप्रयाण के समय अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों को रोता हुआ छोड़कर सदा के लिए दुखी बनाकर चला जाता है। हम यह देखना चाहते हैं कि जो दुःख का पहाड़ हम पर टूट

पड़ा है, वह कभी-कभी दूसरों पर भी गिरता है या नहीं। यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि हमारी ही तरह दूसरा मनुष्य भी दुखी है तो इससे हमारे व्यथित एवं चोट खाए हुए हृदय को राहत मिलती है। डॉ० जानसन ने कहीं लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य यदि चाहे तो दूसरे ऐसे मनुष्य की तलाश कर सकता है जो अपेक्षाकृत बुरी हालत में हो, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वह अपनी वर्तमान परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित कर लेता है। यदि समस्त विश्व में कोई एक मनुष्य ही दुखी होता तो उसका जीवन एक क्षण के लिए भी दूभर हो जाता। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों ने तो वेदना के ही गीत गाए हैं—उनके आराध्य-देव को तो तम के दीपों में ही आना अच्छा लगता है—

> "करुणामय को भाता है तम के दीपों में आना।
> हे नभ की तारावलियो ! तुम क्षण भर को बुझ जाना॥"

दार्शनिकता के कारण भी गीति-काव्य चिरस्थायी हो पाता है। कवि और दार्शनिक का योग होने पर ही कवि चिरकाल तक जीवित रह सकता है। हिन्दी के बहुत से कवि भुला दिए जायँगे किन्तु अपनी दार्शनिकता के कारण भी प्रसाद चिरजीवी रहेंगे। यह सच है कि गीति काव्य में लम्बे-लम्बे समासांत पद रसास्वादन में बाधा पहुँचाते हैं, यह भी सच है कि गीति-काव्य में दार्शनिक-भाव की प्रमुखता भी वांछनीय नहीं। किन्तु भाषा और भाव का यदि सामंजस्य हो, हृदय और मस्तिष्क, दर्शन और काव्य, यदि कन्धे से कन्धा मिलाकर चल सकते हों तो ऐसा गीति-काव्य अवश्य ही सफल कहा जायगा। श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शन और काव्य, भाषा तथा भाव का सुन्दर समन्वय हुआ है—

> "किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका तुझे झाँकना पाप हुआ।
> आग लगे वरदान निगोड़ा मुझ पर आकर शाप हुआ !
> जाँच हुई, नभ से भूमण्डल तक का व्यापक नाप हुआ।
> अगणित बार समा कर भी छोटा हूँ यह सन्ताप हुआ
> अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा,
> आ मेरे आराध्य ! खिलालूँ मैं भी तुझे खिलौना-सा।"

उपयुक्त शब्द-चयन, संगीतात्मकता और प्रवाह के कारण भी गीति-काव्य का सौन्दर्य बहुत कुछ बढ़ जाता है।

पाश्चात्य पद्धति के अनुसार गीति-काव्य को (१) धर्ममूलक, (२) स्वदेशप्रेम-मूलक, (३) प्रेममूलक, (४) प्रकृतिमूलक, (५) चतुर्दशपदी, (६) स्तवन-गीतियाँ या ओड, (७) दर्शन-मूलक, (८) शोक-गीति, (९) मधु-गीति आदि वर्गों में बाँटा जा सकता है।

सूर, तुलसी आदि के पदों को धर्ममूलक गीतियों में रखा जा सकता है। वर्तमान हिन्दी-कविता में स्वदेश-प्रेम से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से गीत मिल जायँगे। प्रसाद का गीत—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा..."

तो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है।

प्रेम तो गीति-काव्य का प्रमुख विषय है। प्रेम की आशा-निराशा, वेदना-माधुर्य आदि का सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी चित्रण इस प्रकार के गीति-काव्य में होता है। 'ग्रन्थि' में पन्तजी ने प्रेम को सम्बोधित कर बहुत ही मधुर उद्गार प्रकट किये हैं—

और भोले प्रेम ! तुम हो क्या बने
वेदना के विकल हाथों से जहाँ
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं !

× × ×

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
वारि पीकर पूछता है घर सदा।

विद्यापति आदि के गीत इसी वर्ग में आते हैं।

प्रकृति का असली स्वरूप क्या है, इसका कवि वस्तुगत दृष्टि से चित्रण करने नहीं बैठता। वह स्वयं जिस रूप में प्रकृति को देखता है, उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का जैसा अनुभव वह करता है, उसी को वह काव्य का रूप दे देता है। उदाहरणार्थ—

(१) **बीती विभावरी जाग री !**
अम्बर पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा नागरी । —लहर

(२) **जीवन में सुख अधिक या कि दुख,**
मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ? —कामायनी

अंग्रेजी साहित्य में गीति-रचना करनेवाले बहुत से कवियों ने सानेट-पद्धति पर रचना की है । सानेट में १४ पंक्तियाँ होती हैं । इटली का कवि पेट्रार्क इस पद्धति का जन्मदाता है । अंग्रेजी साहित्य में स्पेंसर, शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्स्वर्थ, कीट्स, आदि सानेट-लेखकों के नाम अग्रगण्य हैं । माधुरी की प्रतियों में समय-समय पर 'चतुर्दशपदी' शीर्षक से कुछ कविताएँ निकली हैं । इधर श्री प्रभाकर माचवे की इस प्रकार की रचना देखने में आई है । किन्तु हिन्दी साहित्य में कोई कवि सानेट-लेखक के रूप में प्रख्यात नहीं हुआ । बँगला में तो 'चतुर्दशपदी कवितवाली' (मधुसूदनदत्त कृत), 'अशोक गुच्छ' (देवेन्द्रनाथ सेन), 'नैवेद्य' (रवीन्द्रनाथ), 'सानेट-समूह' (मोहितलाल मजूमदार), 'सानेट-पंचाशत' (प्रमथ चौधरी) आदि अनेक संग्रह सानेट-पद्धति पर निकले किन्तु हिन्दी साहित्य में पुस्तकाकार में कोई भी सानेट-संग्रह मेरे देखने में नहीं आया । सानेट-रचना में कवि को बन्धन के वशीभूत होकर चलना पड़ता है । सम्भवत: स्वच्छन्दतावाद या छायावाद के युग में इसीलिए हिंदी साहित्य के कवियों का सानेट-रचना की ओर विशेष ध्यान न गया हो ।

ग्रीक साहित्य में पिण्डार आदि कवियों ने ओड-पद्धति में रचना की थी । ओड (Ode) का वर्ण्य-विषय गरिमापूर्ण तथा महत् होता है । कवि ओजस्वी छन्द में सम्बोधन-पद्धति का आश्रय लेकर इस प्रकार की रचना करता है जिससे एक बड़ा भव्य एवं विराट् चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है । हिन्दी साहित्य में श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू' ओड का उत्कृष्ट उदाहरण है । दिनकर का 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' भी ओजस्वी काव्य-रचना का सुन्दर नमूना है और बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका है । इसे स्तवन-काव्य (Ode) का नाम दिया जा सकता है ।

दार्शनिक गीतों में कवि जीवन और जगत के सम्बन्ध में अपने भावों को प्रकट करता है । किन्तु इस प्रकार गीतों में दार्शनिकता यदि भावावेग की

पोषक हो तभी सुन्दर रचना हो सकती है, नहीं तो उसमें नीरसता के समावेश का डर रहता है। कामायनी के निम्नलिखित गीत को लीजिये—

"तुमुल कोलाहल-कलह में मैं हृदय की बात रे मन !
जहाँ मरु-ज्वाला धधकती, चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन-घाटियों की, मैं सरस बरसात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन !"

·········, पृ० २२५

अंग्रेजी में ग्रे की लिखी हुई शोक-गीति (Elegy) जितनी ख्याति प्राप्त कर सकी, हिन्दी में कोई रचना वैसी प्रसिद्ध न हुई। और सच तो यह है, हिन्दी में श्रेष्ठ शोक-गीतियाँ बहुत हैं ही नहीं किन्तु राजस्थानी साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के तौर पर दो शोक-गीतियाँ नीचे दी जाती हैं—

अकबर बादशाह का दरबार लगा हुआ था। अकस्मात् ही एक संदेश-वाहक ने महाराणा प्रताप की मृत्यु का समाचार बादशाह के कानों तक पहुँचाया। सुनते ही बादशाह खिन्न और उदास हो उठा। शत्रु की मृत्यु पर बादशाह को प्रसन्न होना चाहिए था, न कि उदास। दरबारीगण इस रहस्य को न समझ सके। इस समय राजस्थान के निर्भीक कवि दुरसा आढा ने निम्नलिखित छप्पय कहा जिसकी गूँज आज भी मंद नहीं हो पाई है—

(१)

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गो आडा गवड़ाय, जिको बहतो धुरबामी॥
नवरोजे नहँ गयो न गो आतसां नवल्ली।
न गो झरोखां हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली॥
गहलोत राण जीती गयो, दसण मूँद रसना डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत साह प्रताप सी॥

कवि का यह छप्पय राजस्थान के सुप्रसिद्ध पीछोलों (मरसियों) में से है। यदि अकबर के डर से महाराणा प्रताप की मृत्यु पर कोई मरसिया कहने

वाला न होता तो सम्पूर्ण राजस्थान का शौर्य लज्जित हो उठता; दुरसा आढा ने राजस्थान की लाज रख ली। "महाराणा ने अपने घोड़ों के दाग नहीं लगने दिया। अकबर के शासन-काल में बादशाही फौजों में जो नौकरी करते थे, उनके घोड़ों के पुट्ठे पर राजकीय नियमानुसार दाग लगाया जाता था। अपनी पाघ (पगड़ी) को किसी के सामने नहीं झुकाया, जो शत्रु के सामने कभी नतमस्तक न हुआ। जो आडा[1] गवाता हुआ चला गया, जो हिन्दुस्तान के भार की गाड़ी को बाँई तरफ से खींचने वाला था, नवरोजे के जलसे में जो कभी नहीं गया, नये आतश अर्थात् शाही डेरों में नहीं गया और ऐसे झरोखे के नीचे नहीं आया जिसका रोब दुनिया पर गालिब था। इस तरह का गहलोत राणा प्रतापसिंह विजय के साथ संसार से कूच कर गया जिससे बादशाह ने जबान को दाँतों में दबाया और निःश्वास लेकर आँखों में पानी भर लिया। ऐ प्रतापसिंह! तेरे मरने पर ऐसा हुआ।"

अकबर की खिन्नता का कारण यह था कि वह राणा पर विजय प्राप्त न कर सका; महाराणा यश, प्रताप और विजय का सौरभ विकीर्ण करता हुआ स्वर्गलोक जा पहुँचा। बादशाह की विशाल वाहिनी भी महाराणा को अपने अधीन न कर सकी—यह भी अकबर जैसे बादशाह के लिए दुःख और पश्चात्ताप का विषय था। किन्तु प्रताप प्रताप ही थे। ऐसे महापुरुष अजेय रहने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

(२)

नच्चन बेर निहार,
पुत्त कहि चार प्यार चहि
उहि छिन उमंगि उडंत,
कंध धर हाथ भ्रात कहि।

---

१. आडा—राजस्थान में ऐसी कविता करने की प्रथा अब तक चली आती है जिसमें अदावत रखने वाले शत्रु पर ताने कसे जाते हैं और अपने आराध्य वीर की प्रशंसा की जाती है। इस तरह के सोरठे प्रतापसिंह के सामने ढोली गाया करते थे जिसमें महाराणा के प्रतिपक्षी को आड़े हाथों लिया जाता था। उदाहरणार्थ—

अकबर घोर अंधार, ऊंघाणा हिन्दू अवर।
जागे जग दातार, पोहरे राण प्रतापसी॥

बग्ग उठत रन शप्प,
बप्प कहि अप्प विरद वर ।
तात भ्रात सुत सोक,
गजब त्रिक परिग अरिग गर ।
कट्टिग न पैर कट्टिग यकृत,
कट्टिग मान निसान घन ।।
हय मारिग नहि न चेटक अहह,
मारिग रान पत्ता सुमन ।।

अर्थात् जिस अश्व को नाचता हुआ देख कर पुत्र पुत्र कह कर प्यार किया, उसे ही प्रसन्न होकर जब त्वरित गति से दौड़ाया तो कन्धे पर हाथ धर कर भाई-भाई कहा और युद्ध में डटकर उसे बाग उठाकर अपना बाप-बाप कह कर बिरुदाया (प्रशंसा की)—उस अश्व के मरने पर महाराणा प्रतापसिंह के गले मानो पुत्र, भ्राता और पिता का शोक पड़ गया। उस घोड़े का पैर नहीं कटा किन्तु मान का दृढ़ निसान कट गया। हा! चेटक अश्व नहीं मरा, महाराणा प्रतापसिंह का मन मर गया।

इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु पर कविकुलगुरु ने भी तो 'गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ···" आदि द्वारा इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये हैं।

शोक-गीतियों में हृदय को द्रवीभूत कर डालने की बड़ी प्रबल शक्ति देखी जाती है।

मधु-गीत (Convivial Lyric) लिखने में श्री बच्चनजी ने बड़ी ख्याति प्राप्त की है।

गीति-कविता के जिन वर्गों का उल्लेख किया गया है, इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार हो सकते हैं क्योंकि मानव-भावनाओं की कोई इयत्ता नहीं।

: १२ :

मानटेन-शैली के निबन्ध

भोजन के बाद सोफा पर बैठकर सिगरेट के कश खींचते हुए जैसे कोई ज़िन्दादिल मजेदार अनुभवी व्यक्ति अपने मनोरंजक अनुभव सुना रहा हो—कुछ-कुछ इसी तरह का है सच्चे निबन्ध का वातावरण। इसीलिए निबन्ध को किसी ने 'मजेदार और बहुश्रुत व्यक्ति के भोजनोत्तर एकान्त संभाषण' की संज्ञा दी है। यह सच है कि प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिगत बातें सुनना हमें अच्छा नहीं लगता—एक नीरस व्यक्ति हमारी इच्छा के विरुद्ध (जो स्पष्ट शब्दों में चाहे व्यक्त न हो रहा हो किन्तु जिसकी ध्वनि में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं) जब अपनी सर्वसामान्य रूखी-सूखी थोथी बातें हम पर लादता चला जाता है, उस समय ऐसी बेचैनी का अनुभव होता है जिसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। उस समय इच्छा होती है कि किसी प्रकार यह अपना पचड़ा समाप्त करे और अपना रास्ता ले—हठात् हम मन ही मन कहने लगते हैं—भगवान् बचावे हमें ऐसे दोस्तों से! किन्तु ठीक इसके विपरीत हमारी इच्छा होती है कि एक अनुभवी व्यक्ति हमें अपने दिलचस्प अनुभव सुनाता ही चला जाय, शर्त यह है कि सुनाने वाला व्यक्ति बहुश्रुत हो, उसके सुनाने का ढंग रोचक हो और वह व्यक्ति भी स्वयं मजेदार हो! ऐसा व्यक्ति हमें अपनी बातों से मुग्ध कर सकता है—हँसी-हँसी में वह इस प्रकार का ज्ञान और अनुभव बाँटता चलता है जिसको हम स्वीकारते चले जाते हैं। बात की बात में ही वह हमें जीवन की बड़ी-बड़ी सारगर्भित बातें सुना जाता है, न हमें इसका पता चलता है कि क्यों उसने ये बातें सुनाईं, न हम यही जान पाते हैं कि क्यों हमने ये सब बातें सुनीं और क्या हमारे पल्ले पड़ा—ऐसी ही हवा को साथ लेकर सच्चे निबन्ध का सौरभ फैलता है। किसी ने निबन्ध को 'हँसी-हँसी में ज्ञान-वितरण' के नाम से जो अभिहित किया है, वह यथार्थ ही जान पड़ता है।

डॉ० जॉनसन द्वारा दी हुई निबन्ध की परिभाषा तो प्रसिद्ध ही है अर्थात् निबन्ध मन की उस शैथिल्य भरी तरंग का नाम है जिसमें क्रमबद्धता नहीं मिलती जिसमें विचारों की परिपक्वता का भी अभाव दिखलाई पड़ता है। डॉ० जॉनसन स्वयं अपने ढंग के एक अच्छे निबन्ध-लेखक थे, और यह भी ध्यान में रखने की बात है कि निबन्ध-विषयक उनकी यह परिभाषा भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई किन्तु फिर भी उनकी परिभाषा को हम निर्दोष नहीं मान सकते। निबन्ध में क्रमबद्धता न हो, यह तो माना जा सकता है किन्तु यह कैसे स्वीकार किया जाय कि निबन्ध उस महाभाग की रचना है जिसे बुद्धि का अजीर्ण हो गया हो? कहाँ तो अजीर्ण बुद्धि का वमन और कहाँ हँसी-हँसी में ज्ञान-विज्ञान का वितरण—इन दोनों परिभाषाओं में कितना अन्तर, कितना वैपरीत्य है! सम्भव है इस प्रकार की असम्बद्ध बुद्धि की अजीर्णता को भी निबन्ध की संज्ञा मिल गई हो किन्तु जिन्होंने मानटेन, ऐडीसन, लैंब (Lamb), काउले (Cowley), बेकन, कार्लाइल, सरदार पूर्णसिंह एवं आचार्य शुक्ल आदि के निबन्धों को पढ़ा है, उनको साक्षी देकर कहा जा सकता है कि 'बुद्धि की अजीर्णता' का प्रयोग करने के लिए उनके निबन्ध नहीं हैं। 'ऐसे' शब्द की उद्भावना फ्रांस के मानटेन द्वारा हुई जो निबन्ध का जनक समझा जाता है। उसका कहना था कि मेरी इस प्रकार की रचना साहित्य की एक विशिष्ट नूतन पद्धति के सम्बन्ध में प्रयास मात्र है—ऐसा निर्लिप्त प्रयास जिसमें एक पक्ष के ग्रहण और दूसरे के त्याग का आग्रह नहीं है। दुनिया जैसी है, वैसी ही रहे, चरम सत्य का जो बहुमुखी रूप है; वह भी ज्यों का त्यों धरा रहे किन्तु सच्चा निबन्ध-लेखक अपनी आँखों से दुनिया को जिस रूप में देखता है, सत्य के अनन्तमुखी देव के जितने मुख उसने देखे हैं, उनका वह उद्घाटन करता चलता है। वस्तुतः देखा जाय तो वह दुनिया का उतना दर्शन नहीं कराता जितना अपनी ही मूर्ति का दर्शन दुनिया को कराता है। मानटेन के निबन्धों में आत्म-कथा, चिन्तन और नैतिकता के तत्त्व एक साथ मिलते हैं। मानटेन को बहुत अंशों में सिसरो (Cicero) से प्रेरणा मिली होगी जिसने अमूर्त्त विषयों का संभाषण-पद्धति पर चित्रण किया है और वह भी बड़ी स्वच्छन्दता और वैचित्र्य के साथ। सिसरो से भी पहले प्लैटो ने जो अपने संवाद लिखे थे, उनमें उपन्यास और निबन्ध दोनों के बीज मिल जाते हैं।

प्लैटो के संवादों में दार्शनिक की शुष्कता नहीं है, उनमें साहित्यकार की प्राणमयी सजीवता के दर्शन सर्वत्र हो सकते हैं। मानटेन के निबन्धों में जो आकर्षण है, उसका कारण है उसके व्यक्तित्व की मनोरंजकता, उसका आवेश, उसका सूक्ष्म निरीक्षण तथा तत्कालीन मनुष्यों और उनके रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय। जिस वस्तु में उसकी रुचि है, उसका वह बड़े उत्साह के साथ वर्णन करता है—इस बात की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है कि दूसरे लोग इस विषय में क्या कहेंगे, विषय के सम्बन्ध में अपनी रुचि का होना ही वह लेखनी उठाने के लिए पर्याप्त समझता है। कोई भी वस्तु जो विचित्र अथवा सुन्दर हो, औत्सुक्यमयी अथवा जिज्ञासा उत्पन्न करने वाली हो, रुचिकर अथवा आनन्द प्रदान करने वाली हो, वह अच्छे निबन्ध का विषय बन सकती है यदि वह लेखक के व्यक्तित्व से अनुप्राणित हो।

इस दृष्टि से देखा जाय तो गीति-काव्य और निबन्ध में बहुत कुछ समानताएँ सहज ही मिल सकती हैं। आत्माभिव्यंजन जहाँ गीति-काव्य का प्रमुख गुण है, वहाँ निबन्ध का भी। किन्तु निबन्धकार को गीति-लेखक की तरह पद्य का कोई बन्धन मानकर नहीं चलना पड़ता, यद्यपि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के स्वच्छन्द छन्द लिखे गए और अब भी लिखे जा रहे हैं जो केवल लय के आधार पर चलते हैं, जिनमें मात्राओं का बन्धन नहीं! हास्य के लिए भी जो स्थान निबन्ध में है, वह गीति-काव्य में नहीं। गीति-काव्य का कवि जब उद्वेलित होता है, प्रेम करता है अथवा सुख-दुःख के विचारों को व्यक्त करता है, तब उसके वर्णन में एक प्रकार की गरिमा के ही दर्शन होते हैं; सर्व-सामान्य और घरेलू वस्तुओं का हास्यजनक वर्णन उसकी रचना में नहीं मिलता। हिन्दी साहित्य में श्री प्रतापनारायण मिश्र ने जिस पद्धति पर 'दाँत' आदि सर्वसामान्य विषयों पर निबन्ध लिखे हैं, उसी पद्धति पर गीति-काव्य लिखना कोई पसन्द नहीं करेगा। निबन्ध-लेखक की प्रमुख विशेषता यही है कि वह सर्वसामान्य वस्तुओं का भी इस प्रकार वर्णन करता है कि वे उसके व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर एक प्रकार की वैचित्र्यमयी आभा से आलोकित हो उठती हैं। किसी अच्छे निबन्ध के पढ़ने पर बहुत से पाठक कहा करते हैं कि जो बातें लेखक ने हमारे सामने रखी हैं, उनसे हमारा परिचय न हो, ऐसा

नहीं है किन्तु हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं करते थे कि उन्हीं सामान्य बातों को इतने मनोरंजक ढंग से उपस्थित किया जा सकता है।

जिज्ञासा और औत्सुक्य अच्छे निबन्ध-लेखक के लिए आवश्यक गुण हैं। इस जीवन में न जाने कितनी विभिन्नताएँ, कितनी विषमताएँ हैं और सम्भवतः इस वैषम्य में ही जीवन का सौन्दर्य निहित है। बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके जीवन का क्रम युक्तियों द्वारा निर्धारित नहीं होता किन्तु जो प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों का अन्धानुकरण करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं; इसके विपरीत ऐसे मनुष्यों की भी कमी नहीं जिनके जीवन का पथ बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट होता है और जो पुराणपन्थी मनोवृत्ति को ही आमूल नष्ट कर डालना चाहते हैं। कुछ मनुष्य लहरी होते हैं तो कुछ संगत स्वभाव वाले। जीवन की असंगतियों और विषमताओं से रुष्ट होकर एकान्तवास कर लेना निबन्ध-लेखक का काम नहीं—इन विषमताओं को वह हेय दृष्टि से नहीं देखता, वह इनको समझने की कोशिश करता है, इनमें बड़ी दिलचस्पी दिखलाता है और कभी-कभी इस प्रकार के चुभते हुए व्यंग्यों का प्रयोग करता है जो निशाने पर ठीक बैठते हैं। निबन्धकार को उपदेशक का बाना तो कभी धारण नहीं करना चाहिए। व्यंग्य और हास्य कभी-कभी वह काम कर दिखाते हैं जो बड़े-बड़े उपदेशों से नहीं हो पाता। हिन्दी साहित्य में अभी उच्च श्रेणी के हास्यात्मक और व्यंग्यात्मक निबन्धों का अभाव है। हिन्दी लेखकों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए। छायावादी कवियों ने जिस प्रकार अपनी रचनाओं में पलायनवादी मनोवृत्ति का परिचय दिया, निबन्ध-लेखक वैसा कभी नहीं करता। उसका उद्देश्य तो जीवन-संघर्ष से मुकाबला करना है, वास्तविक कठोर परिस्थितियों से पलायन नहीं। पलायन करने पर तो वह सांसारिक अनुभवों का इतना सजीव तथा मनोरंजक वर्णन कभी नहीं कर सकेगा।

पहले यह समझा जाता था कि लेखक को निबन्ध में अपना व्यक्तित्व प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि निबन्ध में उत्तम पुरुष सर्वनाम का प्रयोग भी वर्जित कर दिया गया। हास्य को भी तब कोई विशेष महत्व प्राप्त न था। किन्तु इस प्रकार की स्थिति बहुत समय तक न रही। स्वाभाविकता से अपने भावों को प्रकट कर देना ही, जिसमें दर्पण के प्रतिबिम्ब

की तरह लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे, सच्चे निबन्ध का लक्षण समझा गया। जिस निबन्ध में वर्ण्य-विषय तो हो किन्तु व्यक्ति नदारद हो वह सच्चे अर्थ में निबन्ध ही नहीं। सच्चा निबन्ध-लेखक वर्ण्य-विषय का उतना प्रस्फुटन नहीं करता, जितना वह अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करता है। कभी-कभी विषय भी रुचिकर हो सकता है किन्तु निबन्ध में सच्ची दिलचस्पी इसी कारण पैदा होती है कि कहने वाला एक व्यक्ति है। लेखक का व्यक्तित्व जितना ही आकर्षक होगा, उतना ही वह हमें अधिकाधिक प्रभावित करेगा। यदि दो लेखक एक ही ढंग से किसी विषय का वर्णन करें तो इसका मतलब तो यह हुआ कि उस विषय ने ही लेखकों पर अपना अधिकार जमा लिया है, लेखकों का उस पर कोई अधिकार नहीं। मानटेन जैसा निबन्ध-लेखक वर्ण्य-विषय के साथ स्वच्छन्द विहार करता है। उसकी पुस्तक का जो स्पर्श करता है, वह वस्तुतः मानटेन के व्यक्तित्व का ही स्पर्श करता है। इस प्रकार का निबन्ध-लेखक उन असंख्य छोटी-छोटी वस्तुओं में भी ऐसे-ऐसे तत्त्व ढूँढ निकालता है जिनकी पाठकों ने स्वप्न में भी कल्पना न की होगी। उसके विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु तुच्छ व नगण्य नहीं है। लेखक के व्यक्तित्व से स्पन्दित होकर वह महत्त्वपूर्ण हो उठती है। आकर्षण की वस्तु वास्तव में विषय नहीं, लेखक का व्यक्तित्व ही आकर्षित करने वाला होता है। चाक के टुकड़े से लेकर परमात्मा तक—कोई भी वस्तु निबन्ध का विषय बन सकती है, निबन्ध के लिए विषयों की सीमा निर्धारण करना सम्भव नहीं। किन्तु विषय चाहे कैसा भी हो, अच्छे निबन्ध के लिए आवश्यक है कि लेखक जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाला हो।

निबन्ध-लेखक की एक प्रमुख विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक जान पड़ता है। उसे जीवन के किसी व्यापार में बहुत अधिक आसक्ति नहीं दिखलानी चाहिए। यदि वह धर्म और राजनीति का वर्णन इस प्रकार करता है कि एक के प्रति उसका पक्षपात और दूसरे के प्रति उसका विरोध स्पष्टतः लक्षित हो जाता है, तो वह अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन नहीं करता। पाप और पुण्य का भी यदि वह चित्रण करे तब भी उसे केवल एक पक्ष का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण न करना चाहिए। दुनिया में कौन ऐसा है जिसमें विशुद्ध भलाई के दर्शन होते हैं और कौन ऐसा है जिसमें

केवल बुराई ही बुराई है ? सहनशीलता और सहानुभूति निबन्ध-लेखक के दो अनिवार्य गुण हैं। वह जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य का विवेचन नहीं करता, वह तो जीवन के विभिन्न दृश्यों को उपस्थित करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि निबन्ध से जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता किन्तु इस सम्बन्ध में जो भी संकेत मिलते हैं, वे सब परोक्ष संकेत होते हैं।

सच्चे निबन्ध के पढ़ने में एक प्रकार के काव्य का आनन्द मिलता है। जो छन्द में लिख दिया गया, उसे ही काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गद्य में भी सुन्दर काव्य की सृष्टि हो सकती है। संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट की कादम्बरी यद्यपि गद्य में लिखी गई है किन्तु फिर भी संस्कृत समीक्षाचार्यों ने उसे काव्य कहा है। सरदार पूर्णसिंह ने हिन्दी में जो निबन्ध लिखे हैं, वे किस कवि की कृतियों से कम महत्त्वपूर्ण हैं ? कालरिज ने कहा था कि काव्य और गद्य परस्पर प्रतिकूल शब्द नहीं हैं, काव्य का प्रतिकूल शब्द है विज्ञान। गद्य का प्रतिकूल शब्द काव्य नहीं है किन्तु गद्य और पद्य परस्पर प्रतिकूल शब्द हैं। काव्य के अध्ययन से भाव जाग्रत होते हैं किन्तु विज्ञान सत्य का तटस्थ दृष्टि से वर्णन करता है। यदि वैज्ञानिक किसी वस्तु का वर्णन करता है तो हम उस वस्तु के विषय में तो बहुत कुछ जान जाते हैं, वैज्ञानिक के विषय में कुछ नहीं जान पाते किन्तु यदि एक कवि किसी वस्तु के विषय में लिखता है तो हम उस वस्तु के विषय में चाहे उतना न जान पायें, कवि के विषय में बहुत कुछ जान जाते हैं। एक का वर्णन यदि वस्तुगत है तो दूसरे का व्यक्तिगत। निबन्ध भी वस्तुतः काव्य की श्रेणी में ही परिगणित किया जा सकता है।

किसी भी प्रकार के नियम को मानकर चलना निबन्ध-लेखक की प्रकृति के प्रतिकूल है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार के लेखक की कृति कोई छिन्न-भिन्न निरर्थक वस्तु होती है। मानटेन अपने निबन्धों में विषयान्तर करता-सा जान पड़ता है किन्तु अन्त में वह सूत्र को इस प्रकार घुमाता है कि विषयान्तर नहीं रह जाता, उसमें भी एक प्रकार की कलात्मक संपूर्णता आ जाती है। मानटेन के ढंग के सच्चे निबन्ध तभी लिखे जा सकते हैं जब लेखक का व्यक्तित्व आकर्षक हो, उसका हृदय संवेदनशील हो, सूक्ष्म निरीक्षण की उसमें असाधारण शक्ति हो, जीवन की विशद अनुभूति हो और मनुष्यों तथा समाज के रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय हो।

: १३ :

सूफी-धर्म

कहते हैं सूफी शब्द अरबी के 'सफ़' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है पवित्रता। रूमी और हाफिज ने भी अरबी व्याकरण को लेकर इसी व्युत्पत्ति का समर्थन किया है। यह भी प्रवाद है कि जब अरब के लोग अज्ञानान्धकार में थे, उस समय सूफा नाम का एक सम्प्रदाय था जिसके सदस्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे और जो मक्का की सेवा और संरक्षण में लगे रहते थे। इस सम्प्रदाय में जो संत हुए वे सूफी संत कहलाये। सम्भव है, ऊनी वस्त्र पहनने के कारण इन सन्तों को सूफी नाम दिया गया हो क्योंकि सूफ शब्द का अर्थ ऊन भी होता है। कुछ विद्वान् ग्रीक शब्द सोफिया (ज्ञान) से सूफी शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं। जो हो, सूफी की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। सामान्य अर्थ में यह शब्द प्रेम-साधना के साधक के लिए प्रयुक्त होता है।

सूफी लोगों में इस्लाम की कट्टरता नहीं मिलती। वे परमात्मा की परम प्रियतम-रूप में उपासना करते हैं। विश्व में एकमात्र प्रभु की सत्ता को ही वे स्वीकार करते हैं; उनकी मान्यता है कि सब कुछ प्रभु में है और सब में प्रभु समाया हुआ है। दृश्य-अदृश्य सब पदार्थ परमात्मा से प्रकट हैं, सब कुछ ईश्वर से ओत-प्रोत है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं, उसकी इच्छा ईश्वराधीन है। शरीर के पहले भी आत्मा की सत्ता थी—पिंजड़े में के पक्षी की तरह आत्मा शरीर में कैद है। सूफी-सन्त बड़े उल्लास से मृत्यु का स्वागत करते हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि आन्तरिक पक्षी इस पिंजड़े से निकलकर परम प्रियतम के मधुर मिलन का आनन्द लूट सकता है। सूफियों की दृष्टि में प्रभु के साथ आध्यात्मिक एकता के लिए भगवान् का अनुग्रह आवश्यक है। इस अनुग्रह को वह 'फया जान उल्लाह' अथवा 'धजलुल्लाह' कहते हैं। भगवान् के जन्म स्मरण-चिन्तन, जप—'जिक्र' को वे अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते हैं। जीवन को सादा और पवित्र बनाने की वे सतत चेष्टा करते हैं : क्योंकि

इस विषय में सभी सूफी एक मत हैं कि प्रभु की प्रेरणा शुद्ध हृदय से ही प्राप्त होती है। जीवात्मा जिन मंजिलों को पार कर परमात्मा तक पहुँचता है, उनको पार करने में बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। 'गुरबत कुरबत अस्त' अर्थात् यह मुसाफरी बड़ी वेदना भरी है। किन्तु फिर भी सूफी ईश्वरीय मार्ग को असम्भव व्यापार नहीं मानते। रूमी कहते हैं—"हे चतुर मनुष्य ! अपनी आँख, कान और होंठ बन्द कर और पीछे जो ईश्वर का मार्ग न मिले तो मेरा उपहास करना।"

सूफियों के दो मुख्य वर्ग हैं—(१) जो दिव्य प्रेरणा में विश्वास रखते हैं, वे 'इलहामिया' कहलाते हैं और (२) जो भगवान् में तल्लीनता प्राप्त करके एक हो जाने में विश्वास रखते हैं, वे 'इत्तिहादिया' कहाते हैं। सूफी धर्म से सम्बन्ध रखने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना यहाँ आवश्यक है—

तालिब—साधक की वह अवस्था है जब वह जगत् की ओर से मुख फेर कर ईश्वरीय मार्ग की ओर उन्मुख होता है और उसके हृदय में वस्तुतः इस मार्ग पर चलने की उत्कण्ठा का बीजारोपण हो जाता है।

मुरीद—जब साधक उक्त मार्ग में बराबर प्रवृत्त रहता है, तब उसे मुरीद कहते हैं।

सलीक—कोई गुरु के आदेशानुसार जब अपने जीवन को प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में प्रवाहित कर देता है, तब वह सलीक कहाता है। सबसे प्रथम उसको सेवा की दीक्षा मिलती है। सेवा द्वारा ही 'इश्क हकीकी' की प्राप्ति होती है। संसार के सब राग-मोह जब भस्म हो जाते हैं, तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त रहता है। ज्ञान के इस उज्ज्वल प्रकाश में प्रभु का साक्षात्कार होता है। यह प्रेम-पद की पूर्णावस्था समझिये। इसके उपरान्त साधक 'वस्ल' अर्थात् मिलन की ओर अग्रसर होता है। मृत्यु के समय फना का आनन्द मिलता है, जब साधक सर्वात्मभाव से अपने को प्रभु में लीन कर देता है।

सूफी-लोग कर्मकाण्ड, उपासना, ज्ञानकाण्ड तथा सिद्धावस्था के अनुरूप शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत, इन चार अवस्थाओं को मानते हैं। जायसी ने भी पद्मावत में कहा है—

"चारि बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार।"

सद्वचन, सत्कर्म, सदाचार और सद्विवेक को सूफी अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ समझते हैं। विश्व में सब कुछ एक में से निकला हुआ है जो अन्त में उसी में लय हो जाता है। संसार में हमारा निवास बीच की स्थिति का है, इसलिए इस स्थिति को प्रभुमय बनाना वांछनीय है। प्रभु सर्वदा हमको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। सूफी सन्त इस आकर्षण को 'इंजिजाब' कहते हैं। जीव का ईश्वरोन्मुख होना 'आकांक्षा' अथवा प्रेम कहलाता है। ईश्वरोन्मुख प्रेम ज्यों-ज्यों बढ़ता है, उसी परिमाण में संसार दूर हटता जाता है। जलालुद्दीन रूमी की मसनवी में कहा गया है कि प्रियतम के हृदयस्थ-द्वार को बाहर से किसी ने खटखटाया। अन्दर से आवाज आई—कौन है? उत्तर दिया गया—मैं हूँ। अन्दर से आवाज आई कि इस घर में 'मैं' और 'तू' दो एक साथ नहीं रह सकते। द्वार बन्द ही रहा। प्रेमी निराश होकर लौट गया। एक वर्ष तक एकान्त में रहकर उसने तपस्या की, उपवास रखे, प्रार्थना की। वर्ष-समाप्ति के बाद प्रेमी ने फिर द्वार खटखटाया। अन्दर से आवाज आई—कौन है? प्रेमी ने उत्तर दिया—तू है। यह सुनते ही द्वार खुल गया। प्रेमी और प्रियतम मिलकर एक हो गये। रूमी ने जीवात्मा और परमात्मा के अद्वैत का कैसा सुन्दर वर्णन किया है!

इस्लाम-धर्म और सूफी-धर्म में मुख्य अन्तर यह है कि इस्लाम एकेश्वरवाद में विश्वास करता है, वह बन्दा और खुदा—इन दोनों के अद्वैत में विश्वास नहीं करता। सूफी अद्वैतवाद में विश्वास करते हैं और इस अद्वैत को इस्लाम की दृष्टि में कुफ्र समझा जाता है। इसी से 'अनलहक-अनलहक' की रट लगाने वाला मंसूर खलीफा द्वारा फाँसी पर चढ़ा दिया गया। मंसूर एक अद्वैतवादी साधक था। जब उसे फाँसी पर चढ़ाया गया, तो, हजारों लोग इस दृश्य को देखने के लिए इकट्ठे हुए। दर्शकों में से किसी ने पूछा—मंसूर, प्रेम क्या है? मंसूर ने उत्तर दिया—'आज देखोगे, कल देखोगे, परसों देखोगे।' उसका अभिप्राय यह था कि आज मुझे फाँसी पर चढ़ा दिया जायगा, कल मेरा शरीर भस्म कर दिया जायगा, परसों कोई चिह्न भी बाकी नहीं रहेगा। कुछ दुष्ट मनुष्यों ने मंसूर की ओर पत्थर भी फेंके; किन्तु फिर भी वह शान्ति धारण किये रहा, क्षुब्ध या उत्तेजित न हुआ। जब उसके हाथ काटे जाने लगे, तब उसने हँसते हुए कहा—मेरे भौतिक हाथों का काट डालना सहज है; किन्तु

किस में शक्ति है जो मेरे आध्यात्मिक हाथों को काट सके ? जब उसके पैर काटे जाने लगे, तो वह बोल उठा---इन पैरों से तो पृथ्वी पर भ्रमण किया है ; किन्तु मेरे आध्यात्मिक पैर भी हैं जिनके द्वारा मैं स्वर्गलोक में भ्रमण करूँगा। किसी में सामर्थ्य हो तो वह आकर मेरे आध्यात्मिक पैरों को काटे !

जब मंसूर की आँखें निकाल ली गई तो बहुत से मनुष्यों का हृदय द्रवीभूत हो उठा, हृदय-स्रोत नेत्रों के द्वारा अश्रुओं के रूप में उमड़ पड़ा। जब उसकी जीभ काटी जाने लगी तो मंसूर ने कहा—कुछ क्षणों तक धैर्य धारण करो, मैं दो निवेदन करना चाहता हूँ। तब अपने मुँह को ऊँचा कर उसने कहा—'हे परमेश्वर, इन लोगों ने इतनी यन्त्रणाएँ जो मुझे दी हैं, उनके लिए इन्हें दण्ड न देना, इन्हें सुखों से वंचित न करना। जब मेरा सिर कट जायगा तो मैं शूली के ऊपर तुझसे मिलकर चिर-सुख का अनुभव करूँगा।' इस प्रकार हँसते-हँसते यह सूफी सन्त मृत्यु के प्रेमालिङ्गन में आबद्ध हो गया।

इतिहास-लेखक बतलाते हैं कि ई० स० ८०० से पैलेस्टाइन में अबू हासिम द्वारा सूफीमत का आविर्भाव हुआ था। किन्तु उसके पहले ही रबिया हो चुकी थी। मनुष्य के पास जब तक हृदय नाम की वस्तु है, प्रेम-मार्ग का आकर्षण बना ही रहेगा। रबिया का जन्म बसरा के एक कुटुम्ब में हुआ था। उसकी तीन बड़ी बहनें थीं। अकाल पड़ा, उसमें रबिया के माता-पिता चल बसे। इसलिए तीनों बहनों को बेच दिया गया। रबिया एक धनी व्यक्ति के यहाँ बेची गई। यह धनवान बड़ा क्रूर और नर-पिशाच था। रबिया से बुरी तरह काम लेता था और मारपीट भी करता था। इस असह्य दुःख के कारण एक अँधेरी रात में रबिया भाग निकली। रास्ता विकट था, ऊबड़-खाबड़। वह ठोकर खाकर गिर पड़ी, दाहिना हाथ टूट गया। इस दारुण दशा में पृथ्वी पर मस्तक टेककर उसने प्रार्थना की—हे प्रभु ! मुझे मेरी इस दुर्दशा का दुःख नहीं, परन्तु मैं तुझे भूलूँ नहीं और तू सदैव मुझ पर प्रसन्न रहे—बस, यही मेरी एक मात्र प्रार्थना है। एक रात रबिया ने प्रार्थना में कहा—प्रभो ! तुम्हारी ही सेवा में मेरे रात-दिवस बीतें, यही मेरी अन्तिम इच्छा है। किन्तु तुमने तो मुझे दासी बनाया, क्या करूँ ? जिस मालिक के यहाँ वह थी, उसने चुपचाप सब सुन लिया। उसे अपनी कठोरता पर ग्लानि हो आई। रबिया के चरणों पर पड़कर उसने क्षमा माँगी और श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक कहा—आप

मेरे घर में रहें तो आपकी सेवा करूँ, अन्यत्र जाना चाहें तो आपकी इच्छा है। मालिक के मन में प्रभु की प्रेरणा हुई, यह समझकर रबिया उसको नमस्कार कर वहाँ से बिदा हुई और वहाँ से निकल कठोर तपश्चर्या में उसने अपना जीवन बिताया। उस समय महात्मा हुसेन बसरा में थे। रबिया उनका सत्संग करती और धर्म-चर्चा में भाग लेती थी। निर्जन वन में उसने योगाभ्यास की साधना की और आयु का शेष हिस्सा मक्का में बिताया। मक्का में इब्राहीम आदम के साथ उसका सत्संग रहा। जीवन-पर्यन्त उसने ब्रह्मचर्य का पालन किया। एक दिन हुसेन ने रबिया से पूछा—रबिया, विवाह करने की तुम्हारी इच्छा है? रबिया बोल उठी—विवाह तो शरीर का होता है, पर मेरे पास शरीर है कहाँ? यह शरीर तो प्रियतम प्रभु को अर्पित कर चुकी! आगे चलकर रबिया ने उपदेश दिये, उनका सार यही था कि प्रभु के ऊपर सतत दृष्टि रहनी चाहिए, यही ज्ञान का फल है। सर्वस्व प्रभु को अर्पण कर, उसी के ध्यान-भजन में मग्न रहना चाहिए। पूर्ण जागृति का अर्थ ही यह है कि प्रभु के अतिरिक्त मन और किसी ओर न चले।

सूफी लोग प्रेम के आनन्द-महोदधि में कल्लोल करते हैं। गजल और कव्वाली गाते-गाते 'हाल' की दशा में आ जाते हैं। कबीर ने एक स्थान पर कहा है—

हरि रस पीया जाणिये, कबहुं न जाय खुमार।
मैमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥

लेकिन यह खुमारी और भावोन्माद की अवस्था हमेशा बनी नहीं रहती। वाईभीद नामक एक संत के लिए कहा जाता है कि 'हाल' की दशा में उसने अपने शिष्यों से कहा—'मैं ही खुदा हूँ, मेरी ही पूजा करो।' समाधि अवस्था दूर होने पर संत ने कहा—'जो फिर मैं ऐसे शब्द कहूँ तो मुझे छुरी से मार डालना।' समाधिस्थ होने पर संत ने फिर उसी तरह के शब्द कहे। कहते हैं संत की तरफ जिन्होंने छुरी फेंकी, वह छुरी उन्हीं के आकर लगी। प्रवाद है कि मंसूर के शरीर से जो खून बहा, उससे जमीन पर 'अनलहक' ये शब्द लिखे गए! शव जब जला दिया गया तो राख पर 'अनलहक' ये शब्द लिखे दिखाई पड़े!! अपनी प्रसिद्ध मसनवी में जलालुद्दीन रूमी ने कहा है—

"परमात्मा ही एक मात्र तथ्य है और वह सब प्रकार के पापों तथा परिभाषाओं से परे है। वह केवल परम सत्ता ही नहीं है, वह परम सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य स्वभावतः अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है। यह नामरूपात्मक जगत् उस आकांक्षा का परिणाम है जिसके वशीभूत होकर परमात्मा कहता है 'मैं एक निधि के रूप में प्रच्छन्न था। मेरी इच्छा स्वभावतः अभिव्यक्त होने की रहती है। इसलिए मैंने प्राणियों की सृष्टि की जिससे सब पर मैं अपना रूप प्रकट कर सकूँ।' मनुष्य की आत्मा का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से है और आत्मा अपने उद्गमस्थल से मिलना चाहती है। शारीरिक उपाधि इसमें बाधक होती है; किन्तु 'हाल' की अवस्था में कुछ समय के लिए यह उपाधि टूट जाती है और साधक परमात्मा से सम्मिलन के आनन्द का अनुभव करता है।"[1]

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतीय अद्वैतवाद और सर्ववाद का सूफी-धर्म पर बड़ा भारी प्रभाव है। एक सूफी की उक्ति लीजिए—

किसी सूरत अलग बन्दे से मौला हो नहीं सकता।
हकीकत में जुदा दर्या से कत्रा हो नहीं सकता।

सूफी लोग जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं उनमें से कुछ प्रतीक यहाँ दिये जाते हैं—[2]

साकी=आध्यात्मिक गुरु

शराब=प्रेम

माशूक=ईश्वर

माशूक के गाल पर का चिह्न=ऐक्य का चिह्न

सूफी सन्तों में बहुत से रहस्यवादी कवि हुए हैं जिनकी रचनाओं में दर्शन और काव्य का रमणीय सम्मेलन देखा जा सकता है।[3]

---

१. रा० प्राणलाल प्र० बची बी० एस-सी० का सूफी धर्म पर लेख (गुजराती)।

२. अद्वैतवाद-प्राच्य ओ पाश्चात्य—श्री सीतानाथ तत्त्वभूषण प्रणीत (बँगला)।

3. Background of Sufism in Indian Environment (Article by Mr. M. L. Roy Chowdhury in the journal of the Greater India Society, January, 1944).

: १४ :

संकलन-त्रय

नाट्यालोचन में पुराकाल से समय, स्थान और कार्य के संकलनों की चर्चा होती आई है। अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' में तीनों संकलनों का उल्लेख मिलता है। महाकाव्य और दुःखान्त नाटक के अन्तर को स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने बतलाया है कि दुःखान्त नाटक में यथासाध्य घटना को एक दिवस अथवा अपेक्षया कुछ अधिक काल तक सीमित कर देने का प्रयास देखने में आता है जब कि महाकाव्य में समय का ऐसा कोई बन्धन नहीं होता।[1]

अरस्तू के उक्त उल्लेख में एक प्रचलित प्रथा का निर्देश मात्र है, समय-संकलन जैसे किसी नाटकीय नियम की व्यवस्था नहीं। इसके अतिरिक्त जिस प्रचलित प्रथा का निर्देश किया गया है, उसका भी, प्राचीन नाटकों में, सर्वत्र दृढ़ता से पालन नहीं हुआ है; प्राचीन नाट्यकारों की कृतियों में इसके भी अनेक अपवाद देखने को मिलते हैं।

दुःखान्त नाटकों में घटना को एक दिवस-पर्यन्त सीमित कर देने की जो बात ऊपर कही गई है, उस प्रसंग में अरस्तू ने एक दिवस के लिए 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' (A single revolution of the sun) का प्रयोग किया है। 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' का तात्पर्य २४ घण्टों से है अथवा १२ घण्टों से—इसको लेकर भी समीक्षकों में बहुत मतभेद चला। कार्नील ने २४ घण्टों के पक्ष में अपना मत प्रकट किया किन्तु अरस्तू के प्रमाण के आधार पर ही कुछ खींचातानी करके उसने ३० घण्टों की अवधि निर्धारित की, यद्यपि इस

---

1. Epic poetry and tragedy differ, again, in their length : for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit ; whereas the epic action has no limits of time. (Poetics. Chapter V.)

2. द्रष्टव्य *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art* by S. H. Butcher Pp. 290-291.

अवधि को भी उसने अवरोधक ठहराया। डेसियर (Dacier) ने इस अवधि को १२ घण्टों की माना और कहा कि ये १२ घण्टे दिन या रात, किसी के भी हो सकते हैं अथवा दोनों के आधे-आधे हो सकते हैं। उसकी दृष्टि में दुःखान्त नाटक का आदर्श तभी उपस्थित होगा जब यथार्थ और नाटकीय जगत की घटनाओं के काल-यापन में समीकरण स्थापित हो जाय। किन्तु समय-संकलन के निर्वाह में इस प्रकार की कठोरता का पालन एक प्रकार से अव्यावहारिक ही रहा।

स्थान-संकलन से तात्पर्य यह है कि नाटक में ऐसे किसी भी स्थान पर कार्य-व्यापार नहीं होना चाहिए, जहाँ नाट्य-निर्दिष्ट समय में नाटक के पात्र यातायात करने में असमर्थ हों। अतः स्थान-संकलन के निर्वाहार्थ नाटकीय कार्य-व्यापार एक नगर या एक ऐसे स्थल तक ही सीमित हो जाता था जहाँ कार्यवश सभी आवश्यक पात्रो का समावेश हो जाता। इस संकलन का चरम आदर्श सम्भवतः वहाँ उपस्थित होता था जब एक ही कमरे में राजा से लेकर गरीब तक का समावेश करवा दिया जाता था।

अरस्तू ने अपने 'काव्य-शास्त्र' में स्थान-संकलन का दूरस्थ संकेत-मात्र किया है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि स्थान-संकलन का सिद्धान्त समय-संकलन से ही उद्भूत हुआ है।

कार्य-संकलन का अभिप्राय यह है कि नाटक में ऐसी किसी भी घटना का समावेश नहीं होना चाहिए जिसका नाटक की प्रमुख घटना से सम्बन्ध न हो। नाट्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कृति को आदि, मध्य और अन्त-समन्वित एक अखण्ड सृष्टि के रूप में प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध में लावेल का कहना है कि जिस तरह शरीर के एक अंग का दूसरे के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह का पारस्परिक संयोजन और सम्बन्ध नाटक के विभिन्न भागों में होना चाहिए। नाटक का संस्थान ऐसा होना चाहिए जिसमें संश्लेषण की अनिवार्यता और समन्विति का पूर्ण निर्वाह हुआ हो। नाट्यकार को इस ओर बराबर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए कि नाटक का ढाँचा निरा यान्त्रिक न बन जाये जिसमें एक अंश दूसरे अंश के साथ यों ही, बिना किसी नियम के, अलल-टप्पू जोड़ दिया गया हो।

अरस्तू ने यद्यपि नाटक में कार्य-संकलन को ही अनिवार्यतः आवश्यक

ठहराया था तथापि समय और स्थान-संकलन का अर्थ कुछ लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि नाटक में केवल एक व्यक्ति का आख्यान रहना चाहिए किन्तु सच तो यह है कि एक व्यक्ति के जीवन में ही ऐसी असंख्य घटनाएँ हो सकती हैं जिन सबका समुच्चय एक नाटकीय कथानक की सृष्टि नहीं कर सकता, इसी प्रकार समय के संकलन से भी कार्य-संकलन अपने आप नहीं हो जाता। अरस्तू की दृष्टि में होमर ने इस तथ्य को भली भाँति हृदयंगम कर उसे कार्यान्वित किया था। ईलियड और ओडीसी में उसने नायक की सब घटनाओं को न लेकर उन्हीं घटनाओं को लिया है जिनका मूल घटना से सम्बन्ध है। जिस घटना की सत्ता से नाटक की मुख्य घटना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिसका होना न होना बराबर है, नाटकीय कथानक का अभिन्न अंग वह नहीं मानी जा सकती। इतना ही नहीं, ऐसी घटना के समावेश से कार्य-संकलन को भी क्षति पहुँचती है।

अरस्तू के मत से नाटक का विस्तार उतना अवश्य होना चाहिए जितने के द्वारा कथानक का स्वाभाविक विकास दिखलाया जा सके। उसकी दृष्टि में कार्य-संकलन मुख्यतः दो रूपों में सम्पन्न होता है—१. नाटकीय घटनाओं में कार्यकारण-सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। २. सब घटनाएँ किसी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हों।

होरेस ने रोम में अरस्तू के नाटकीय सिद्धान्तों का प्रचार किया और फ्रांस के शिष्टवादियों ने तीनों संकलनों कीस्थापना को परमावश्यक ठहराया। उनके मतानुसार—

(क) नाटक में एक मात्र विषय कथानक रहेगा। यदि उसमें छोटी-छोटी घटनावली को संयोजित करने की आवश्यकता हो तो उसे इस प्रकार सन्निविष्ट करना उचित है कि वह मूल घटना की परिपोषक हो।

(ख) सारी घटनाओं का एक जगह संघटित होना आवश्यक है।

(ग) सारी घटनाओं का एक ही दिन में और एक कारण से होना उचित है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इतने विधि-निषेधों को मानकर चलने वाला नाट्यकार सर्वदा स्वाभाविकता की रक्षा नहीं कर सकता। अंग्रेजी साहित्य में बेन जॉन्सन ने तीनों नाटकीय संकलनों का निर्वाह किया

है । शेक्सपियर ने भी 'टेम्पेस्ट' तथा 'कामेडी ऑफ एरर्स' में संकलनों की रक्षा की है, किन्तु अपने अन्य नाटकों में उसने समय और स्थान के ऐक्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया । ड्राइडन ने समय और स्थान-संकलन के सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाई थीं । 'पीछे इब्सन की आँधी में ये सिद्धान्त रुई की भाँति उड़ गए ।'

जहाँ तक संस्कृत नाट्याचार्यों का प्रश्न है, कुछ आलोचकों का आक्षेप है कि उनका ध्यान काल, स्थान और कार्य-संकलन की ओर उतना नहीं गया क्योंकि रस-निष्पत्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा । यह तो सच है कि भरत के नाट्य-शास्त्र से लेकर परवर्ती अनेक लक्षण-ग्रन्थों में रस को आत्मा और नाटक के इतिवृत्त को शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु फिर भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत नाट्याचार्यों ने समय, स्थान और कार्य के ऐक्य पर दृष्टि नहीं रखी है । भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में 'अंक में काल-नियम' के अन्तर्गत एक प्रकार से समय-संकलन पर ही अपने विचार प्रकट किए हैं । उन्हीं के शब्दों में—

"एकदिवसप्रवृत्तं कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य ।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ।"

'एकदिवसप्रवृत्तं' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—"अर्थांकस्य प्रयोगकालपरिमाणमियदिति दर्शयति एकदिवसप्रवृत्तमिति ।" अर्थात् एक अंक में जितने कार्य-व्यापार का प्रदर्शन करना हो, उसके लिए एक दिवस का समय निर्दिष्ट किया गया है । 'एक दिवस' से अभिनवगुप्त का तात्पर्य १५ मुहूर्त से है । दिन-रात के तीसवें हिस्से को 'मुहूर्त' की संज्ञा दी गई है । दिन समाप्त होने तक का पूरा काम यदि एक अंक में न आ सकता हो तो अंकच्छेद करके शेष काम प्रवेशकों द्वारा सूचित कर देना चाहिए ।

"दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम् ॥"

प्रवेशकों द्वारा चूलिका, अंकावतार, अंकमुख, प्रवेशक और विष्कम्भक का ग्रहण किया गया है ।

नाटक में कुछ स्थल ऐसे होते हैं जो रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जिनकी सूचना प्रवेशक, विष्कंभक आदि द्वारा दे दी जाती है। ऐसे स्थलों को 'सूच्य' कहते हैं। भरत 'नाट्य-शास्त्र' में सूच्य अंश के लिए भी एक वर्ष की अन्तिम सीमा निर्धारित की गई है।

"अंकच्छेदं कुर्यान्मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥"[१]

नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योंके सप्रयोगमधिकृत्य। आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्यांके कर्तव्यम्। केचित्तु वासरार्द्धकृतोह्यङ्क इति। केचिच्च एकरात्रिकृतमेकवासरकृतमंके वक्तव्यम्। यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रांतं यदुच्यते वर्षादूर्ध्वं न कदाचिदिति। तदेतद् बहुकालप्रणेयं नांके विधेयमिति।"

अर्थात् एक दिन का काम ही एक अंक में दिखाना चाहिए। कथा में जो बातें दिखानी हैं, उनमें से एक-एक दिन की कथा एक-एक अंक में दिखानी चाहिए। एक आचार्य कहते हैं—अंक में आधे दिन की कथा दिखानी चाहिए, दूसरे आचार्य का कहना है कि एक रात-दिन की घटना एक अंक में कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक काल की घटनाओं का प्रदर्शन करना हो, वहाँ 'प्रवेशक' का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु एक वर्ष से ऊपर की घटना नहीं होनी चाहिए अर्थात् बहुत समय की घटना एक अंक में नहीं आनी चाहिए।[२]

बहुत वर्षों की घटना यदि एक अंक में दिखलाई जाय तो उसमें अस्वाभाविकता आने का डर रहता है। स्पेन में इस तरह के नाटक लिखे गये हैं जिनमें प्रथम अंक में नायक का जन्म दिखलाया गया है और नाटक के अन्त में नायक वृद्ध पुरुष के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार के व्यतिक्रम को स्वाभाविक बनाने के लिए नाट्यकारों को सूच्य पद्धति का प्रयोग करना ही पड़ता है।[३]

---

१. द्रष्टव्य नाट्य-शास्त्रम् अभिनवगुप्तविरचितविवृतिसमेतम् (अष्टादशोऽध्यायः) ० ४२०-४२२. Gaekwad Oriental Series, Volume LXVIII.

२. देखिये, अभिनव नाट्य-शास्त्र (श्री सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १००)।

3. There are Spanish dramas in which the hero is born in Act I, nd appears again on the scene as an old man at the close of the play.

समय के ऐक्य की ओर ही नहीं, स्थानगत ऐक्य की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने ध्यान दिया था। अंक में 'देश-नियम' का उल्लेख करते हुए नाट्यशास्त्रकार कहते हैं—

"यः कश्चित्कार्यवशाद् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्।
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्सञ्ज्ञैः ॥"

अर्थात् यदि कोई पुरुष कार्यवश बहुत दूर चला गया हो तब भी पूर्ववत् अंकच्छेद करना वांछनीय है। एक अंक में जिन दृश्यों का समावेश किया गया हो उनमें इतना अन्तर न हो, इतनी दूरी उनके बीच में न हो कि नायक निर्दिष्ट समय में वहाँ पहुँच ही न सके। किन्तु यदि नायक के पास पुष्पक-विमान जैसा वायुयान हो तो फिर दूरी चाहे जितनी हो, वहाँ अंकच्छेद बिना भी काम चल सकता है। "आकाशयानकादिना सर्वं युज्यते" द्वारा अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।[1]

यहाँ पर समय और स्थानगत ऐक्य के पारस्परिक सम्बन्ध की यह स्थापना भी विशेषतः उल्लेखनीय है।

अभिनवगुप्त के उक्त साक्ष्य के होते कीथ की इस उक्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत-नाट्यकार समय और स्थान सम्बन्धी संकलनों के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे।[2]

The missing spaces are almost of necessity filled in by the undramatic expedient of narrating what has occurred in the intervals. Yet even here all depends on the art of the dramatist. Years may elapse between successive acts without the unity being destroyed, as we see from the Winter's Tale.—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art by S. H. Butcher p. 299.

१. देखिये नाट्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त की विवृति (वही पूर्वोक्त संस्करण, पृष्ठ ४२३)

2. The statement of Prof. Keith in his Sanskrit Drama that Sanskrit dramatists were ignorant of the principles of unities of time and place, is based upon his own ignorance of the technique of Sanskrit Drama.—Comparative Aesthetics, Vol. 1 by K. C. Pande, p. 349.

जहाँ तक कार्य की एकता का प्रश्न है, आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, कार्य की ये पाँच अवस्थाएँ; बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ; तथा मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्धियाँ, इस तथ्य को स्पष्ट प्रमाणित करती हैं कि कार्य की एकता की ओर संस्कृत-नाट्याचार्यों ने पूरी दृष्टि रखी थी। आरम्भ, प्रयत्न आदि को लेकर कथानक के जो पाँच विभाग किये गए हैं, उनमें नायक (व्यक्ति) पर दृष्टि रखी गई है; बीज, बिन्दु आदि को लेकर जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें घटनाओं पर दृष्टि रखी गई है; यह वर्गीकरण वस्तुपरक कहा जायगा। मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों को लेकर जो विभाजन किया गया है, उसमें नाटक के शरीर और उसके अवयवों की कल्पना सन्निहित है। अरस्तू ने जो दुःखान्त नाटक का वर्गीकरण किया है, वह केवल वस्तुपरक है; संस्कृत नाट्याचार्यों द्वारा किया हुआ कथानक का यह त्रिविध वर्गीकरण अपेक्षया विशद एवं व्यापक है।

अन्त में, निष्कर्ष के रूप में यह कहना आवश्यक है कि नाटक में कार्य का संकलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; समय और स्थल-संकलन कार्य-संकलन के अंगभूत मात्र हैं। सच तो यह है कि प्रतिभा के विकास में जहाँ नियम बाधक सिद्ध होने लगते हैं, वहाँ वे त्याज्य हैं। नियमों की सार्थकता प्रगति की बाधकता में नहीं, उसकी साधकता में है। स्थल-संकलन और समय-संकलन का प्रयोग आजकल, सामान्यतः हिन्दी साहित्य के नाटकों में भी, एकांकियों और कुछ आख्यायिकाओं को छोड़कर, अन्यत्र नहीं किया जा रहा है यद्यपि प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में मेरी दृष्टि में किसी प्रकार तीनों संकलनों का सुन्दर निर्वाह हो गया है। इस बात को हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है किन्तु युग-परिवर्तन के साथ-साथ प्रतिभाशाली लेखक जब पुराने नियमों का अतिक्रमण कर नयी-नयी रचनाएँ करने लगते हैं, तब वे रचनाएँ ही नूतन लक्षण-ग्रन्थों के लिए आधार बन जाती हैं।

द्वितीय खण्ड

: १५ :

कामायनी

कथानक की मनोरंजकता के लिए जो 'कामायनी' पढ़ना चाहते हैं, उन्हें एक प्रकार से निराश ही होना पड़ेगा। इस महाकाव्य की कथा तो इतनी स्वल्प है कि उसे केवल दस वाक्यों में कहा जा सकता है। जल-प्लावन, श्रद्धा को छोड़कर मनु का सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा की ओर गमन, मनु और श्रद्धा का पुर्नमिलन तथा अन्त में हिमालय-यात्रा और तत्त्वदर्शन—मुख्यत: इन्हीं पंच मणिकाओं द्वारा इस काव्य-माला का गुम्फन हुआ है। वेदों तथा उपनिषदों आदि के बिखरे हुए कथासूत्र को शृंखलित रूप देने का काव्यात्मक प्रयास प्रसादजी ने किया है। किसी एक ग्रन्थ में कामायनी का सम्पूर्ण कथानक उपलब्ध नहीं है। प्राचीन आख्यान को पल्लवित करके कवि उसमें रम गया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता; पुरातन कथा का आश्रय लेकर चलना तो औपचारिक मात्र है—युगानुरूप नये संदेशों की स्थापना करना ही उसका विशेष लक्ष्य रहा है; अथवा कवि के ही शब्दों में यदि यह कहा जाय कि "यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है" तो सम्भवत: सत्य के अधिक निकट होगा क्योंकि इस आख्यान द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहेगी। साहित्य में चाहे कोई भी वाद प्रचलित क्यों न हो जाय, जब तक मानव नाम का प्राणी इस पृथ्वी पर जीवित है, वह मनोवृत्तियों से हमेशा उद्वेलित और प्रभावित होता रहेगा, और कामायनी तो मूलत: मनोवृत्तियों का ही आख्यान है—कामायनी के द्वारा मन के हृदय-पक्ष का तथा इड़ा के द्वारा बुद्धि-पक्ष का चित्रण इस महाकाव्य में हुआ है। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि में भी मनोवृत्तियों को पात्रों का रूप दिया गया था किन्तु वहाँ धार्मिकता का ही प्राधान्य रहा; मनोवैज्ञानिक अंश गौण ही बना रहा। भारतीय साहित्य में सम्भवत: कामायनी ही सबसे पहला महाकाव्य है जिसमें काव्य में मनोविज्ञान और दर्शन तथा दर्शन और मनोविज्ञान में काव्य का एकत्र समाहार हुआ है।

इस महाकाव्य का वास्तविक प्रारम्भ कामायनी के प्रवेश के साथ ही होता है और बुद्धि (इड़ा) पर बलात्कार करने वाले मनु जहाँ मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं, वहीं इस काव्य का एक प्रकार से अंत समझिये; आदि और अन्त का अन्तरालवर्ती अंश मध्य भाग कहा जा सकता है। मन को बुद्धि के नियन्त्रण में रहना चाहिए, बुद्धि को मन के नियन्त्रण में नहीं—यह भी 'कामायनी' का एक निष्कर्ष है। सामान्यत: मनमानी बुद्धिमानी नहीं होती। "वहाँ तो मनमानी चल रही है' इस प्रकार की व्यावहारिक भाषा में भी 'मनमानी' का प्रयोग अविवेकपूर्ण स्वेच्छाचारिता के अर्थ में होता है। मन सामान्यत: प्रेयस् की ओर उन्मुख होता है जिसका अनिष्टकारी परिणाम हम जगत् में देखा करते हैं। मन के प्रतीक 'कामायनी' के मनु को जो विशुद्ध आदर्श रूप में चित्रित देखना चाहते हैं, उन्हें मन की करतूतों का आँखें खोलकर निरीक्षण करते रहना चाहिए।

'निर्वेद' में मनु की उद्विग्नता का चित्रण है। 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' अन्तिम तीन सर्गों में दार्शनिकता का समावेश है। शैवागम दर्शन का प्रभाव प्रसाद पर पड़ा था। 'रहस्य' में शैव सिद्धान्त 'समरसता' की स्थापना की गई है जिसको कार्य रूप में चरितार्थ करने से आनन्द की उपलब्धि होती है जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। अन्तिम सर्गों की इस प्रकार अवतारणा से सम्भव है, रचनातन्त्र में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों किन्तु अन्तिम सर्गों के उपक्रम के बिना उस महान् संदेश का दिया जाना सम्भव नहीं था जो इस महाकाव्य द्वारा हमें प्राप्त होता है। भावना, ज्ञान और क्रिया के सामंजस्य के बिना जीवन में विशृंखलता अवश्यम्भावी है। चाहें तो कह सकते हैं कि 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्गों में दर्शन-शास्त्र का काव्यमय विवेचन है तो पूर्ववर्ती सर्गों में मनोविज्ञान का।

कामायनी में कार्य की प्रधानता नहीं है। महाकाव्यों में चरित्रों के आधिक्य तथा युद्ध आदि के वर्णन से कार्य-व्यापार का यथोचित समावेश हो पाता है किन्तु कामायनी के प्रधान पात्र केवल तीन ही हैं—मनु, श्रद्धा तथा इड़ा, और ये भी सामाजिक न होकर ऐकान्तिक अधिक हैं। कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में तो व्यापार का अधिकांश में अभाव है। अन्तर्मुखी वृत्ति वाले पाठक तो इस काव्य की उदात्त गम्भीरता तथा दार्शनिक पुष्टता के

कारण बहुत अधिक प्रभावित होते हैं और कार्य-व्यापार का अभाव भी उनको नहीं खटकता किन्तु बहिर्मुखी वृत्ति वाले पाठक इसकी दार्शनकता से आतंकित—से होकर न इसे विशेष समझ ही पाते हैं, और न इसके खिलाफ ही अपनी आवाज उठा सकते हैं। कई प्रश्नवाचक चिह्न एक साथ उनके मस्तिष्क पर अंकित दिखलाई पड़ते हैं।

जायसी ने 'पद्मावत' के अन्त में अपने महाकाव्य की अन्योक्ति के रूप में व्याख्या की है परन्तु पद्मावत और कामायनी की रूपक-शैली में स्पष्ट ही बहुत अन्तर है। प्रसादजी ऐसी रुचि के व्यक्ति नहीं थे जो श्लेष द्वारा दो-दो अर्थ निकालें जैसा जायसी ने स्थान-स्थान पर किया है। कामायनीकार के शब्दों में "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समासोक्ति और अन्योक्ति का आश्रय लिया जाता है। कामायनी में मनु और श्रद्धा का आख्यान प्रस्तुत और मानसिक वृत्तियों के रूप में मन और श्रद्धा का आख्यान अप्रस्तुत माना जा सकता है। किन्तु क्या इस महाकाव्य में अप्रस्तुत साध्य और प्रस्तुत साधन मात्र है? पद्मावत के सम्बन्ध में जिस प्रकार समासोक्ति और अन्योक्ति का विवादास्पद प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, उसी तरह, आश्चर्य की बात नहीं, यदि हिन्दी के आलोचक कामायनी के सम्बन्ध में भी विवाद खड़ा करदें।' जहाँ तक मैं समझता हूँ, प्रस्तुत और अप्रस्तुत का तारतम्य प्रसादजी को अभीष्ट न था। जायसी की तरह इस भेद पर उन्होंने जोर नहीं दिया है। वे ऐसा कहते हुए जान पड़ते हैं—'ऐतिहासिक' आख्यान तो प्रस्तुत है ही, सांकेतिक अर्थ को भी अभिप्रेत अर्थ मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? किन्तु यह प्रस्तुत है, यह अप्रस्तुत है, ऐसा कहे बिना क्या काम ही नहीं चल सकता? किसी के महत्त्व को घटाने-बढ़ाने की आवश्यकता ही क्या है? दोनों को एक ही धरातल पर रहने दो।" कामायनी वस्तुतः एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है जिसके प्रमुख पात्र मनोवृत्तियों के ही मानवीकृत रूप हैं। इसका आख्यान भी प्रसाद ने उस युग का रखा है जो केवल भारतीय सीमा में आबद्ध नहीं है क्योंकि यह विश्व-विश्रुत जल-प्लावन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित

करता है। इस प्रकार इस महाकाव्व की सार्वदेशिकता हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठती है। यद्यपि कामायनी का आख्यान प्राचीन है तथापि इसमें उपस्थित की हुई समस्याएँ नवीन हैं। नूतन होते हुए भी यह पुरातन है और पुरातन होते हुए भी यह नूतन है।

पुराणपंथी आलोचक प्राचीन नियमों की कसौटी पर कसकर इस महाकाव्य का मूल्यांकन किया करते हैं। 'इसका नायक धीरोदात्त नहीं है'—इस प्रकार की उक्तियों से कामायनी के महाकाव्यत्व को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। यह आवश्यक नहीं कि लक्षणग्रन्थ सर्वकालीन हों और फिर लक्ष्यग्रन्थों के आधार पर ही तो उनका निर्माण होता है। अभी उस दिन एक शास्त्रीय आलोचक ने मुझे कहा कि कामायनी के मनु में भारतीय आदर्शों की रक्षा नहीं हो पाई है। सच तो यह है कि जीवन का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष करने की ओर कामायनीकार की दृष्टि बहुतांश में रही है और विशुद्ध उदात्त आदर्शों का आश्रय लेकर चलने से जीवन की वास्तविकता का रूप प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। रवि बाबू ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल, मेघदूत आदि की जो आलोचना की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थ का ही आदर्श में पर्यवसान होता है। इस प्रकार के चित्रण में असम्भाव्यता के लिए भी कोई स्थान रह नहीं जाता। गुप्तजी ने भी स्वीकार किया है कि "साकेत में मैंने, कालिदास की प्रेरणा से, उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से आरम्भ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम भोगजन्य किंवा कामजन्य है। उसी को योगजन्य देखने के उद्योग में 'साकेत' की सार्थकता है।" ठीक यही बात कामायनी के मनु के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। श्रद्धा के प्रति मनु का प्रारम्भिक प्रेम वासनाजन्य ही है; तभी तो काम को कहना पड़ा—

> **"पर तुमने तो पाया सदैव, उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र,**
> **सौन्दर्य-जलधि से भर लाये, केवल तुम अपना गरल-पात्र।"**

इसी वासनाजन्य प्रेम की परिणति अंत में सामरस्य (योग) में हुई है। बड़े-बड़े मनीषियों के जीवन में भी यह भोग-योग का आदि-अवसान देखने में आता है। एक बार गौतम बुद्ध भी नारी के प्रेम में भूल गये थे; गोस्वामी

तुलसीदास भी नारी की फटकार सुनकर ही रामोन्मुख हुए थे—और तो और, इस युग का महामानव भी अपनी युवावस्था में भोग का शिकार बन चुका था, उसके अनुपम त्याग ने उसे महात्मा के पद पर आसीन कर दिया था। बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ आज समीक्षा-सिद्धान्तों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। जल-प्लावन, पर्वत, सरिता, वसन्त, सैन्य-संचालन आदि का इस काव्य में भी वर्णन है पर रूढ़ि-परम्परा के पालनार्थ नहीं; घटना के स्वाभाविक क्रम में ही इस प्रकार के वर्णनों की नियोजना हुई है।

आचार्यों ने वस्तुनिर्देशात्मक तीन प्रकार के मंगलाचरणों का विधान किया है। कामायनी का मंगलाचरण 'कुमारसंभव' के मंगलाचरण की तरह वस्तु-निर्देशात्मक ही कहा जायगा किन्तु मुक्तावलीकार का कथन है कि सब प्राचीन लेखकों ने किसी न किसी रूप में मंगलाचरण किया है। वेदान्तसूत्रों के सम्बन्ध में मंगलाचरण विषयक प्रश्न उठाने पर उत्तर दिया गया था कि "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" का अर्थ शब्द ही मंगलात्मक है। इस प्रमाण के आधार पर तो कामायनी का प्रारम्भिक शब्द "हिमगिरि" ही मंगल-सूचक है। इस प्रकार की आलोचना से तथ्य-ग्रहण उतना नहीं होता जितना कुतूहल जागृत होता है। एक बार किसी आलोचक ने मुझे कहा था कि "गुञ्जन" का प्रारम्भिक शब्द 'छाया' (छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन) इस काव्य के छायावादी रूप की ओर संकेत करता है।

कहा जाता है कि महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त—इन तीन रसों में से कोई एक अङ्गी रस होना चाहिए। कामायनी में कौनसे रस का प्राधान्य है, इसको लेकर शास्त्रीय विद्वान् चाहे परस्पर वाद-विवाद करते रहें किन्तु ऊपर के विश्लेषण के अनुसार यदि इस महाकाव्य के कथानक की स्वाभाविक समाप्ति वहीं हो जाती है जहाँ मूर्च्छित होकर मनु गिर पड़ते हैं तब तो करुणा रस ही इस काव्य का अंगीरस माना जायगा। यह स्थापना करते समय इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि अंतिम तीन सर्ग मूल-कथा से अभेद रूप से संयुक्त नहीं हैं। प्रसाद ने दुःखदग्ध जगत् और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग के एकीकरण में ही साहित्य की सार्थकता स्वीकार की है। कामायनी के प्रथम १२ सर्ग यदि दुःखदग्ध जगत् का दृश्य दिखलाते हैं तो अंतिम तीन सर्ग आनन्दपूर्ण स्वर्ग की ओर उन्मुख करते हैं—

"सोच रहे थे जीवन सुख है, ना, यह विकट पहेली है !
भाग अरे मनु, इन्द्रजाल से, कितनी व्यथा न झेली है !
समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था ;
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।"

गेटे (Goethe) ने जिस प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल के लिए कहा था, उसी प्रकार हम कामायनी के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं कि पृथ्वी और स्वर्ग दोनों का मिलन यदि एक स्थान पर देखना हो तो निःसंकोच 'कामायनी' का नाम लिया जा सकता है।

कामायनी में महाकाव्य से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से नियमों का जो निर्वाह हो गया है, वह संयोग की बात समझिये क्योंकि रीति-ग्रन्थों के प्राचीन आदर्श पर इसका निर्माण नहीं हुआ है। धीरोदात्त आदि चरित्र सम्बन्धी परम्परागत नियमों का पालन करने के कारण प्राचीन महाकाव्यों में वर्गगत चरित्रों की ही सृष्टि हो सकी, व्यक्तिगत विशेषताओं वाले चरित्रों का सृजन न हो पाया। बहुत से महाकाव्य तो नियमों के निदर्शन मात्र रह गये। कामायनी चरित्र-प्रधान काव्य है, उसमें घटनाओं का बाहुल्य नहीं। उसके प्रमुख तीनों चरित्र—मनु, श्रद्धा और इड़ा भी अपनी-अपनी विशेषताओं से समन्वित हैं।

'कामायनी' के मर्म को समझने के लिए प्रतीकात्मक क्रम का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। मनु की चिन्ता ऐतिहासिक है सही किन्तु वह वस्तुतः मानव की ही चिन्ता है—देवता तो कभी चिन्तित नहीं हुआ करते। यह चिन्ता प्रवृत्तिमूलक है और सामान्यतः कार्य में प्रवृत्ति होने पर मनुष्य आशोन्मुख हो जाता है। प्रवृत्ति में स्वतः ही ऐसी शक्ति होती है कि उसके सामने निराशा के बादल भी फट जाते हैं। आशा के बाद श्रद्धा का होना स्वाभाविक है क्योंकि श्रद्धा एक ऐसा आन्तरिक भाव है जो सुखात्मक भाव का प्रतिनिधि है। मन और श्रद्धा के मिलन के पश्चात् 'काम' का प्रकरण है। काम को प्रसादजी ने उदात्त रूप में ग्रहण किया है। स्वयं कवि के ही शब्दों में 'काम' का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है—"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।" यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है। प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक

भी है। जब से हमने प्रेम को (Love) या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श-भावना के कारण इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत्त कर लेता है। इसी वैदिक काम की, आगम शास्त्रों में, काम-कला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्माद भाव की साधना-प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धान्तों में इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारम्भ किया है, उनमें काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा व्यापक रूप है।[1] कन्या-दान के मन्त्र में कहा गया है—'कोऽदात् कस्माऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता।' इससे भी काम का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि 'काम' का प्रयोग कामना के व्यापक अर्थ में ही हुआ है। काम का दुरुपयोग वासना के रूप में प्रकट होता है जो इसका परवर्ती सर्ग है। नारी और पुरुष के प्रथम मिलन में पुरुष में वासना और स्त्री में लज्जा का प्रादुर्भाव होता है। 'कर्म' में श्रद्धा की लज्जा का आवरण भी जाता रहता है; नारी और पुरुष प्रणय-व्यापार में प्रवृत्त हो जाते हैं। श्रद्धा पशुओं से भी प्रेम करती है; अपनी सन्तान के लिए बेंत का झूला भी बनाती है किन्तु मनु श्रद्धा के समस्त प्रेम का उपभोग एकाकी ही करना चाहते हैं, इसलिए उनके हृदय में श्रद्धा के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है और वे श्रद्धा को छोड़कर इड़ा की ओर चले जाते हैं। वासना हिंसात्मक कार्यों की ओर प्रवृत्त करती है, हिंसा ईर्ष्या की ओर ले जाती है और ईर्ष्या के मूल में असन्तोष का भाव रहता है—ऐसी अवस्था में मन भौतिक बुद्धि की ओर बढ़ता है। श्रद्धा ही वह वृत्ति है जो चंचल मन को एकाग्रता देती है। श्रद्धा के अभाव में बुद्धि-समन्वित मन का अवश्यम्भावी परिणाम है संघर्ष, जो मन को अवसादपूर्ण

1. Of the gods man has conceived and worshipped, Ibn Arabi is of opinion that desire is the greatest and most vital. It is the greatest of the universal forms of His self-expression.

बना देता है। 'संघर्ष' के पहले जो श्रद्धा का स्वप्न दिखलाया गया है, उसका कारण यह है कि 'स्वप्न' का ही प्रत्यक्ष रूप 'संघर्ष' में दिखलाया गया है और संघर्ष का परिणाम है निर्वेद।' निर्विण्ण मन किस प्रकार पुनः श्रद्धा के सहयोग से आनन्दपूर्ण हो जाता है, यह दिखलाने के लिए 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' इन तीनों सर्गों की अवतारणा की गई है।

समरसता शैव-दर्शन की प्रमुख विशेषता है। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अध्यात्म-पक्ष को यदि हम थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें तो भी इसका व्यावहारिक रूप हमें बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। लौकिक अनुभव और ऐतिहासिक वृत्त पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि समरसता के बिना कहीं सुख नहीं मिल सकता। रुग्ण बच्चे को भावना के वशीभूत हो माता अन्न खिला देती है और उसका यह कार्य बच्चे के लिए विषवत् सिद्ध होता है। ज्ञान, कर्म और भावना के सामंजस्य के बिना अनिष्ट ही पल्ले पड़ता है। Cleopatra के प्रेम में निमग्न होकर—एक स्त्री के लिए—जूलियस सीजर अपने समस्त साम्राज्य को भूल गया; बादशाह डेविड के लिए प्रसिद्ध है कि वह कुछ समय उदार और कुछ समय क्रूर दिखलाई पड़ता है—एक क्षण परमात्मा की उपासना करता और दूसरे क्षण पापाचार में प्रवृत्त हो जाता, फिर पश्चात्ताप की कविताएँ लिखता और कुछ समय बाद फिर कुत्सित पथ का पथिक बन जाता था। सोलन (जो ज्ञान का अवतार ही समझा जाता है) के लिए कहा जाता है कि वह अपने पुत्र के लिए कुछ भी न कर सका। प्रवाद प्रचलित है कि चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस से मिलने के लिए कोई सज्जन आये। कन्फ्यूशियस ने कहलवा दिया कि वे घर पर नहीं हैं किन्तु ज्योंही वे सज्जन घर के दरवाज़े से बाहर निकले, दार्शनिक ने अपने ऊपर के कमरे में इस उद्देश्य से गाना शुरू कर दिया कि जिससे उक्त सज्जन को इस बात का पता चल जाय कि वे घर पर ही हैं। मिल्टन के सम्बन्ध में तो यह मानी हुई बात है कि अपनी सत्रह-वर्षीय युवती स्त्री के साथ जब उनका निर्वाह नहीं हो सका तो तलाक पर उन्होंने एक पुस्तिका ही लिख दी। फिर जब इसका विरोध हुआ तो आपने उक्ति-स्वातन्त्र्य की वकालत करना शुरू कर दिया। चीन के सबसे बड़े कवि Tao Yiiunming के लिए कहा जाता है कि वे मदिरा के बड़े शौकीन थे। वे एकान्तसेवी थे और दर्शकों से मिलना-जुलना

पसन्द नहीं करते थे किन्तु जहाँ शराब देख लेते, वहाँ बिना बुलाए ही पहुँच जाते थे, इस बात की भी उन्हें परवाह न थी कि मेजबान से उनका कोई परिचय है या नहीं। आप स्वयं कभी मेहमानों को आमन्त्रित करते तो सबसे पहले पीने बैठ जाते थे और पी चुकने पर कहा करते—"मैं तो मदिरा-पान कर चुका और निद्रादेवी के वशीभूत हो रहा हूँ; अब आप लोग अपने-अपने घर जा सकते हैं।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। दूर जाने की आवश्यकता ही क्या है, आज के इस वैज्ञानिक युग में बौद्धिक अतिवाद और हृदय-पक्ष के अभाव के कारण जो विनाश का दृश्य उपस्थित है, वह किसी से छिपा नहीं है। वस्तुतः सामरस्य में ही उद्धार का मर्म छिपा हुआ है। कामायनी में समन्वय की विराट् चेष्टा है; प्रसाद किसी भी अति-वाद का समर्थन नहीं करते। इस महाकाव्य में बुद्धिवाद का जो बिरोध सा दिखलाई पड़ता है वह भी एकान्तिक बुद्धिवाद का विरोध है; हृदय-समन्वित बुद्धि का नहीं। कामायनी के अन्तिम सर्गों से तो यह सिद्ध भी हो जाता है कि बुद्धि आत्मा-तत्त्व का ही एक अंग है। इस प्रतीकात्मक महा-काव्य में बुद्धिवाद के लिए भी यथेष्ट स्थान निर्दिष्ट है। विद्वानों का कहना है कि कामायनी में सामरस्य का सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में ग्रहण किया गया है, आध्यात्मिक रूप में नहीं। शैवागम के सामरस्य का कट्टर रूप इसमें नहीं है किन्तु फिर भी कामायनी की दार्शनिकता से इनकार नहीं किया जा सकता। इसकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिकता को देखकर ही किसी-किसी ने तो इसे 'छायावाद का उपनिषद्' तक कह दिया है।

प्रसादजी मुख्यतः प्रेम और सौन्दर्य के ही रहस्यवादी कवि हैं। असा-धारण सौन्दर्य और प्रेम उन्हें रहस्योन्मुख कर देता है। सूफी रहस्यवाद और प्रसाद के रहस्यवाद में मुख्य अन्तर यह है कि सूफी काव्य में मानव प्रतीक मात्र होता है, सौन्दर्य तथा प्रेम ही काव्य का मुख्य विषय बन जाता है। लेकिन प्रसाद की रचनाओं में मानव मात्र उपादान नहीं है; सौन्दर्य और प्रेम मानव-जीवन के अंग रूप में ही आए हैं। "हे अनन्त रमणीय कौन तुम ?" आदि पद्यों में कवि की जिज्ञासा और श्रद्धाभरी रहस्यमयी अभिव्यक्ति एक साथ देखी जा सकती है।

छायावादी अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उदाहरण 'कामायनी'

में सहज ही ढूँढे जा सकते हैं। लज्जा जैसे अमूर्त भाव का जो मूर्त प्रत्यक्षीकरण प्रसाद ने करवाया है, उसे पढ़कर तो चित्त उल्लसित हो उठता है—

"लाली बन सरस कपोलों में,
आँखों में अंजन-सी लगती
कुंचित अलकों की घुँघराली,
मन की मरोर बनकर जगती
चंचल किशोर सुन्दरता की,
मैं करती रहती रखवाली
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली।"

इसमें सन्देह नहीं, कामायनी में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ विचारों की गूढ़ता सरसता को आक्रान्त कर लेती है किन्तु इस महाकाव्य में मार्मिक स्थलों का भी अभाव नहीं है। वस्तुतः दार्शनिक, कवि तथा इतिहासज्ञ तीनों को सम्मिलित रूप में लेने से ही प्रसाद के व्यक्तित्व का अर्थ समझ में आ सकता है किन्तु इन तीनों में भी प्रमुखता तो कवि प्रसाद को ही दी जायगी।

'ले चल मुझे भुलावा देकर' जैसी कुछ पंक्तियों के आधार पर आये दिन हिन्दी के आलोचक प्रसाद को पलायनवादी ठहराया करते हैं। ऋग्वेद में इसी आशय को व्यक्त करने वाली पंक्तियाँ मिल जाती हैं; रवि बाबू के काव्य में से भी इसी अभिप्राय को प्रकट करने वाले पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं जो मैं गौरव-भय से नहीं कर रहा हूँ। तो क्या इसका अर्थ यह है कि ऋग्वेद पलायनवादी रचना है और रवि बाबू पलायनवादी कवि हैं? यह तो कवि की एक मनोदशा की अभिव्यक्ति मात्र है। हिन्दी के आलोचकों की यह एकांगी दृष्टि शोभनीय नहीं। मेरी तो मान्यता है कि 'कामायनी' के प्रसाद सिद्धान्ततः तो नियतिवादी भी नहीं थे, नियतिवाद उनके स्वभाव की विशेषता अवश्य है। श्रद्धा के मुख से 'कामायनी' में जो विचार प्रकट करवाये गये हैं, वे निश्चय ही स्फूर्तिदायक हैं—

"कहा आगन्तुक ने सस्नेह, अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर॥

× × ×

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल।

'कामायनी' को पढ़कर कुछ लोग कहते हैं कि 'हिमालय' पर ले जाकर आनन्द का दर्शन कराना पलायनवाद नहीं तो और क्या है ? किन्तु हिमालय-यात्रा के पहले तो मनु विकट जीवन-संघर्ष में होकर गुजर चुके थे। पलायन-वादी तो असल में वह है जो सामाजिक उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता किन्तु प्रसाद के सम्बन्ध में इस तरह की बात नहीं कही जा सकती। उनके साहित्य में विद्रोह अवश्य है किन्तु निर्बलता नहीं। उनके आदर्श को भी पलायनवाद कहकर उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। यदि मार्क्सवादी न होने का अर्थ ही पलायनवादी है तब तो बात ही अलग है। आचार्य हजारी-प्रसादजी द्विवेदी ने मानवता की कसौटी पर कसकर जो प्रसाद और प्रेमचन्द के साहित्य की आलोचना की है, वह मुझे बहुत भाती है। जो साहित्य मानवता के प्रति हमारी आस्था को प्रतिष्ठित करता है, वह निश्चय ही अभि-नन्दनीय है। महाभारतकार के शब्दों में "गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्टतरं हि किंचित्" किन्तु इसका यह अर्थ न समझा जाय कि हम उन परिस्थतियों की अवहेलना कर रहे हैं जो मानवता की प्रतिष्ठा के लिए सहा-यक होती हैं। यह कहना यथार्थ है कि 'कामायनी' में देवत्व पर मानवत्व की विजय दिखलाई पड़ती है।

: १६ :

'कामायनी' का काम-सर्ग[1]

जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमालय की ऊँची चोटी पर जा लगती है। भीगे नयनों से वे प्रलय का प्रवाह देख रहे हैं। देव-सृष्टि के विध्वंस पर, अतीत के उन सुखों पर वे चिन्तित हैं। किन्तु जब प्रलय का भयंकर दृश्य धीरे-धीरे दूर होने लगा तो सुनहली उषा के साथ मनु के हृदय में भी आशा का संचार हुआ जिसका चित्रण दूसरे सर्ग में हुआ है। आशा का ही व्यक्त रूप है श्रद्धा जो मनोवृत्ति भी है और कामायनी नारी भी है। तीसरे सर्ग 'श्रद्धा' में मनु और कामायनी का मिलन होता है। नारी के प्रवेश के साथ घटना-चक्र में तीव्रता आती है। वस्तुतः कामायनी के 'कार्य' का प्रारम्भ यहीं से है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् चतुर्थ सर्ग में काम का चित्रण हुआ है। नारी का आकर्षण मनु के अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाता है। समस्त सर्ग की घटना को तो एक ही वाक्य में प्रकट किया जा सकता है 'श्रद्धा के सौन्दर्य से आकृष्ट मनु को स्वप्न होता है कि उसे पाना चाहो तो उसके योग्य बनो।' यह अवश्य है कि यह सर्ग हमारी औत्सुक्य-वृद्धि करता है। हम जानना चाहते हैं कि देखें मनु कौनसे मार्ग को ग्रहण करते हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यह सर्ग दो स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नारी के आकर्षण के बाद मन की प्रतिक्रिया जो मनु की स्वगतोक्तियों में अभिव्यक्त हुई है।

(२) काम का मनु को स्वप्न में आदेश।

'कामायनी' घटना-प्रधान नहीं, वृत्ति-प्रधान है। इसलिए इस काव्य के सम्यक् रसास्वादन के लिए वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण और उनके विश्लेषण

---

१. कामायनी के प्रत्येक सर्ग पर अलग-अलग लेख लिखकर इस महाकाव्य की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करना लेखक का मन्तव्य है। 'काम' और 'लज्जा' इन दो सर्गों पर इस पद्धति के लेख यहाँ दिये जा रहे हैं। —लेखक

को ही विशेषतः लक्ष्य में रखना चाहिए। इसके सर्गों का नामकरण भी मनोवृत्तियों को लेकर ही हुआ है। प्रसाद ने बड़े उदात्त और व्यापक अर्थ में काम का प्रयोग किया है जैसा कि कामायनी की निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट है—

काम मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग, इच्छा का है परिणाम।

भारतीय शास्त्रों में भी काम की व्यापकता का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है—

कामो जज्ञे प्रथमं नैनं देवा आयुः पितरो न मर्त्याः
ततस्त्वमसि ज्यायानं विश्वहा महांस्ते काम नमः इति कृण्णोमि ॥

—अथर्ववेद ६।२।१९

अर्थात् हे काम, तू सबसे प्रथम उपत्न्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नहीं। इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

—ऋक् १०।१२९।४

अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि का मूल तत्त्व काम प्रकट हुआ। 'एकोहं बहुस्याम्' की भावना से ही सृष्टि का प्रसार हुआ। गीता में भी धर्म से अविरुद्ध काम को ईश्वरीय विभूतियों में शामिल किया गया है।[1] मनुस्मृति में भी 'यद् यद्धि क्रियते कर्म, तत्तद्धि कामचेष्टितम्' कह कर काम की व्यापकता का स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है। भारतीय शास्त्रों में धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ काम की भी चतुर्वर्ग में गणना की गई है। किन्तु काम का अर्थ आज बिगड़ गया है। यह इन्द्रिय-लिप्सा के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय साधकों और उपदेशकों ने वैराग्य-भाव जागृत

---

१. धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

—गीता ; अध्याय ७-११

करने के लिए क्रोध, लोभ आदि के साथ काम की षड्रिपुओं में गणना की, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में काम को बाधक समझकर उसे वर्ज्य ठहराया गया। देवों में परिगणित किये जाने पर भी कामदेव, र्वजित देव ही समझे गये। काम की महती सर्जनशीलता और अदम्य प्रेरक शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का श्रेय फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को है। फ्रायड ने काम-भावना को मूल शक्ति माना। मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे इस शक्ति[१]की प्रेरणा रहती है। भोग और संयोग की इच्छा स्वाभाविक है किन्तु वह तो पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; काम का परिष्कार ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। दया, ममता, त्याग आदि उदात्त वृत्तियाँ काम-भावना के परिषोध के ही परिणाम हैं। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः प्रसाद ही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने 'कामायनी' के द्वारा काम का उदात्त और व्यापक रूप हिन्दी जनता के समक्ष रखा। मैं इसे प्रसाद की बड़ी भारी देन मानता हूँ कि सौन्दर्य, प्रेम और दर्शन के इस कवि ने काम का इस प्रकार वर्णन किया है जैसे यह विशुद्ध भारतीय विचारधारा हो। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री के रूप में देखना भी प्रसाद की नई अवतारणा है जो सामान्य पाठक को एकदम आश्चर्य में डाल देती है। कामायनी मनु से कहती है—

दया, माया ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

काम की पुत्री के पास कहाँ से आये ये मानवोचित गुण, यदि काम केवल उच्छृङ्खल वासना का ही दूसरा नाम हो, किन्तु वस्तुतः प्रसाद ने मङ्गल से मंडित श्रेय के रूप में ही काम का वर्णन किया है। कामायनी के मनु ने काम के परिमार्जित रूप का प्रयोग नहीं किया, इसीलिए काम को कहना पड़ा—

"पर तुमने तो पायी सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र ;
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये, केवल तुम अपना गरल-पात्र।"

× × ×

"तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया;
हाँ, जलन-वासना को जीवन-भ्रम तम में पहला स्थान दिया।"

कामायनी काम और रति की पुत्री क्यों है? अब हम इस प्रश्न पर बड़ी आसानी से विचार कर सकते हैं। काम-भावना का उदात्त रूप दया,

माया, ममता, भक्ति आदि गुणों की सृष्टि कर सकता है और श्रद्धा इन्हीं गुणों का मूर्तिमन्त रूप है। केवल भोगेच्छा के सीमित अर्थ से आगे बढ़कर यदि हम काम और रति के व्यापक अर्थ पर ध्यान दें तो काम और रति की सन्तान के रूप में कामायनी की कल्पना बड़ी उपयुक्त जान पड़ती है। प्रसाद ने काम को आकांक्षा तथा रति को तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे, आकांक्षा तृप्ति समन्वय में।

× × ×

मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको।"

मान लीजिये, हमारे मन में सत्य की कामना का उदय होता है। गांधी जैसे महापुरुष में जब हम सत्य की पूर्ति देखते हैं तब हमारी आकांक्षा को तृप्ति का रूप मिलने के कारण गांधीजी के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा का जन्म होता है। इस प्रकार काम और रति से अथवा आकांक्षा और तृप्ति से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है।

व्यापक अर्थ में काम आकांक्षा का ही पर्याय है। आकांक्षा में भोगेच्छा भी शामिल है किन्तु 'काम' उसी तक सीमित नहीं। काम यदि व्यापक है तो भोगेच्छा व्याप्य है। देव-शरीर में मनु ने खूब उपभोग किया था। श्रद्धा से साक्षात्कार होने पर पुराने संस्कारों के कारण उनमें 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा का उदय हो रहा है। काम के उद्रेक के समय मनु को ऐसा जान पड़ता है जैसे जीवन रूपी वन में वसन्त का आगमन हो गया हो। वसन्त के आने पर कोकिल मतवाली होकर कूकने लगती है, काम के आगमन पर मन उमंगों से भर जाता है, मन की वीणा राग अलापने लगती है, हृदय की कोकिल कूक उठती है। कहीं-कहीं तो प्रसाद ने बायरन की तरह सौन्दर्य के प्रभाव का बड़ा तीव्र तथा व्यक्तिगत अनुभूतिमय वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

"जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक-कोने में लुक रहना;
तब शिथिल सुरभि से धरणी में,
बिछलन न हुई थी? सच कहना।"

कितने ऐसे हैं जो कामिनियों के कटाक्ष-पात से विचलित नहीं हो जाते,

फिसल नहीं जाते ? अपनी अनुभूति के बल पर इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर जैसे प्रसाद सुनना ही नहीं चाहते क्योंकि यथार्थ जीवन की सचाई तो इस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर में ही निहित है ।

"है स्पर्श मलय के झिलमिल सा संज्ञा को और सुलाता है;
पुलकित हो आँखें बन्द किये तन्द्रा को पास बुलाता है ।
व्रीड़ा है यह चंचल कितनी विभ्रम से घूँघट खींच रही;
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से क्यों मेरी आँखें मींच रही !"

मनु कहते हैं मुझे ऐसा लगता है जैसे शीतल-मन्द पवन के स्पर्श की तरह किसी ने मेरा स्पर्श कर लिया हो जिससे मेरी आत्म-चेतना जैसे जाती रही है, रोमांच हो रहा है, आँखें बन्द हो रही हैं और झपकी-सी आ रही है । मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी लज्जाशीला नायिका ने विभ्रम से घूँघट निकाल लिया हो, जो स्वयं छिपने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी पीछे से आकर मुझसे आँख-मिचौनी का खेल खेल रही है । प्रेम के इस प्रकार के शारीरिक अनुभावों पर लोगों ने आपत्ति भी की है । आदर्शवादियों के प्रभाव से यह परम्परा पड़ चुकी थी कि प्रेम का खुला रूप काव्य में प्रदर्शित न किया जाय । प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम-काव्य में हम अतृप्तिमूलक वासना पाते हैं । एक साथ ही इतना वासनामय और इतना दार्शनिक कवि हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ ।

बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ है या "सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?" यह प्रश्न रह-रहकर मनु के हृदय में उत्पन्न होता है । अनन्त के प्रति अपनी आकुल आकांक्षा की भावना से प्रसाद ने कामायनी के मनु को भी आवेष्टित दिखलाया है । अनन्त के दिव्य उद्घाटन की कल्पना से मनु आह्लादित हो उठते हैं । उपनिषदों में कहा गया है कि स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । प्रसाद के अनन्त नेभी चाँदनी सदृश सुसज्जित आवरण अपने मुख पर डाल रखा है । क्या ही अच्छा हो यदि यह आवरण हट जाय जिससे उस दिव्य रूप का दर्शन हो सके ! ऐसा दर्शन जिसमें पर-मात्मा शेषनाग की तरह कल्लोल करता हुआ और आनन्द की लहरियों में विचरण करता हुआ दिखलाई पड़े (अथवा आसमान की तरह) जिसमें शब्द

भरा हुआ है और जो शब्दों की लहरों में विचरण करता है। पीथागोरस के 'नक्षत्र-संगीत' की ओर भी अव्यक्त संकेत हो सकता है जिसके अनुसार आसमान में विचरण करने वाले नक्षत्र गीत गाते हुए चलते हैं, शेषनाग के झागयुक्त फन की तरह (अथवा आसमान की आकाश-गंगा की तरह) अपना वरद हस्त उठाये हुए हो और शेषनाग की अनन्त मणियों की तरह अथवा आकाश के असंख्य नक्षत्रों की तरह वरदान रूपी मणियों का जाल लुटा रहा हो, जो अपनी निद्रा से जाग उठा हो और उन्मत्त होकर कुछ गा रहा हो। कवि के ही शब्दों में—

> **"चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,**
> **अवगुण्ठन आज सँवरता सा;**
> **जिसमें अनन्त कल्लोल भरा,**
> **लहरों में मस्त विचरता सा—**
> **अपना फेनिल फन पटक रहा,**
> **मणियों का जाल लुटाता सा;**
> **उन्निद्र दिखाई देता हो**
> **उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"**

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे परमात्मा कोई सुन्दर स्त्री हो जिसने अपने मुख पर घूँघट डाल रखा है। कबीर ने आत्मा रूपी स्त्री के घूँघट का उल्लेख किया है,[1] प्रसाद अनन्त के अवगुण्ठन का वर्णन कर रहे हैं।

मनु विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह सब क्या माया उलझन है? लेकिन बाद में मनु का चेतन मन इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि संयम का मार्ग छोड़कर मैं सौन्दर्य का उपभोग करूँगा। हमारे अचेतन मन में बहुत सी अतीतकालीन स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती हैं। मनु अपनी जाग्रत अवस्था में तो एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं किन्तु रजनी के पिछले पहरों में उनको एक आदेशात्मक स्वप्न आता है जिसमें काम उच्छृङ्खलता के दुष्परिणाम और संयम की मंगलमयी सम्भावनाओं

१. घूँघट के पट खोल री तोहि पीय मिलेंगे—कबीर

की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जाग्रत अवस्था में जब किसी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलती तब हमें आदेशात्मक स्वप्न आया करते हैं। निम्नलिखित आदेशात्मक स्वप्न के साथ ही इस सर्ग की समाप्ति हुई है जिसमें नाटकीयता का अच्छा समावेश हो गया है—

> "उसके पाने की इच्छा हो तो
> योग्य बनो" कहती कहती;
> वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
> जैसे मुरली चुप हो रहती।
> मनु आँख खोल कर पूछ रहे :—
> "पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?
> उस ज्योतिर्मयी को देव !
> कहो कैसे कोई नर पाता है ?"
> पर कौन वहाँ उत्तर देता
> वह स्वप्न अनोखा भंग हुआ।

'काम' सर्ग मनोविज्ञान, काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय है—

> परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
> अपने आलस का त्याग किये।
> अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
> अन्तर में उसकी चाह रही॥

उक्त पद्यों में सांख्य-दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली विचारधारा स्पष्ट है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। साम्यावस्था में प्रकृति का उन्मीलन या आविर्भाव नहीं होता। वह प्रकृति के आलस्य की दशा है। वैषम्य में सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्तृत्व उत्साह है और अकर्तृत्व आलस्य। 'परमाणु बाल सब दौड़ पड़े' में कणाद के परमाणुवाद की स्पष्ट झलक है।

किसी ने कहा है कि पन्त के सौन्दर्य-चित्रों में प्रकृति ही मनुष्य बन गई है, प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रों में मनुष्य ही प्रकृति बन गया है। प्रसाद का

प्रकृति-वर्णन मानवसापेक्ष है। 'कामसर्ग' में वसन्त का-सा वर्णन तो हो यगा है किन्तु यह शुद्ध वसन्त का वर्णन नहीं है, उस वसन्त का वर्णन है जिसका सम्बन्ध मनु के जीवन से है।

कामायनी ध्वनि-प्रधान काव्य है। 'काम-सर्ग' में ध्वनि के अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

"अपना कलकण्ठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।"

ध्वनि यह है कि झरनों से जो कल-कल शब्द हो रहा था वह काम की ही ध्वनि थी अर्थात् कल-कल करते हुए झरनों से काम-भावना जागृत होती थी। 'है भीड़ लग रही दर्शन की' में श्लिष्ट दर्शन पद के आधार पर ध्वनित होता है कि दर्शनों का वाग्जाल उस दिव्य ज्योति के साक्षात्कार में बाधक होता है। 'नक्षत्रो! क्या तुम देखोगे इस ऊषा की लाली क्या है?' इस पंक्ति में अप्रस्तुत प्रतीक विधान भी बहुत उपयुक्त हुआ है। हे दमसंयम का जीवन व्यतीत करनेवालो, विलासिता के आनन्द का तुम्हें क्या पता? इस प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना के लिए ही उक्त पंक्ति का प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य और अनुराग के प्रतीक के रूप में ऊषा की लाली का चित्रण और अन्धकार में टिमटिमाते हुए नक्षत्रों से संयमी लोगों की तुलना मनु की मनोदशा देखते हुए बहुत ही उचित है। काली रात में टिमटिमाते हुए नक्षत्र 'ऊषा की लाली' को क्या समझेंगे बेचारे!

कहीं-कहीं बहुत ही फड़कती हुई पंक्तियों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ है—'क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी?' अपने मोहक आकर्षण में यह पंक्ति कितनी बेजोड़ है! प्रसाद एक साथ ही दार्शनिक और कवि दोनों हैं और ऐसा दार्शनिक कवि ही चिरकाल तक जीवित रहता है अपने विचारों की सार्वदेशीयता आदि के कारण।

: १७ :

'कामायनी' का लज्जा-सर्ग

चिन्ता, आशा आदि मानव-मनोवृत्तियों को लेकर 'कामायनी' के सर्गों का नामकरण किया गया है। किन्तु मनोवृत्तियों का स्वतन्त्र निरूपण न करके प्रबन्ध-काव्य का निर्वाह करने के लिए कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने का प्रयास प्रत्येक सर्ग में दिखलाई पड़ता है। इन मनोवृत्तियों के कारण यदि कथानक की शृंखला कहीं बिलकुल छिन्न-भिन्न हो जाती, तो अवश्य इसमें बड़ी भारी त्रुटि आ जाती। यह तो अवश्य है कि 'कामायनी' में कार्य की प्रधानता नहीं है; किन्तु कार्य का सर्वथा अभाव है, यह तो किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता। प्रथम सर्ग से ही कार्य का आरम्भ हो जाता है। जल-प्लावन में मनु को एक नौका का सहारा मिला। एक महामत्स्य ने उसमें एक चपेटा मारा, जिसके आघात से मनु हिमालय की एक चोटी पर आ लगे। प्रलय में देवताओं के सर्वनाश को देखकर मनु गहरी चिन्ता में निमग्न हो गए। मनु की चिन्ता ऐतिहासिक है सही; पर प्रसाद ने इसे मानव-चिन्ता का रूप दिया है। सौभाग्य से जल की वह बाढ़ कम हुई और 'प्रलय-निशा का प्रात' हुआ। हिमालय से उतरकर मनु का प्रकृति की रम्यता में विचरण करना दूसरे सर्ग का विषय है। एक गुफा में वे रहने लगते हैं और यज्ञ-कर्म में लीन हो जाते हैं। बचे अन्न का कुछ अंश कहीं दूर पर रख आते हैं, जिससे किसी बचे हुए दूसरे प्राणी को सन्तोष मिल सके। उनका भी कोई अपना होता, यह भावना उनके मन में घर कर लेती है। तीसरे सर्ग में नारी के प्रवेश के साथ घटना-चक्र में तीव्रता आती है। यहाँ से केवल पुरुष की कथा नहीं है। निवृत्तिमूलक वृत्तियों का परित्याग कर यहाँ से निश्चित प्रवृत्ति की तरफ़ यह काव्य उन्मुख होता है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् 'काम' का प्रकरण है, जिसमें मनु को स्वप्न में काम का आदेश मिलता है कि यदि वह कामायनी को प्राप्त करना चाहे, तो उसके योग्य बने। 'काम' का दुरुपयोग 'वासना' के रूप में प्रकट होता है, जो इसका परावर्त्ती सर्ग है। मनु आवेश में भरकर श्रद्धा का

हाथ पकड़ लेते हैं और उसकी छवि एवं मधुरिमा का गुण-गान करने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में नारी के हृदय में लज्जा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जिसका सुन्दर चित्र निम्नांकित रेखाओं में खींचा गया है—

> **"गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक ;**
> **भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।**
> **स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण-कपोल ;**
> **खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्गद् बोल।"**

श्रद्धा ने कहा—'हे देव, क्या आज का मेरा आत्म-समर्पण नारी के चिर-बन्धन का कारण होगा ? और क्या मैं आपके स्नेह-दान के उपयुक्त अपने-आपको सिद्ध कर सकूँगी ?' श्रद्धा की इस उक्ति से ध्वनित होता है कि प्रथम नारी ने जिस दिन पुरुष को आत्म-समर्पण किया, उसी दिन से समस्त नारी-जाति ने मानो अपनी स्वाधीनता पुरुष को अर्पित करदी। नारी का आत्म-समर्पण ही मनु का उद्धार करेगा, नारी के इस आदर्शवाद का संकेत भी श्रद्धा के दूसरे प्रश्न में अन्तर्हित है। 'वासना' में शारीरिक आकर्षण की ही प्रधानता दिखाई गई है, और यहीं से कथा का दुःखान्त रूप प्रकट होता है। यदि ऐतिहासिक कथा के साथ-साथ 'कामायनी' की सांकेतिक कथा भी है, तो यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि क्या प्रत्येक स्त्री-पुरुष के जीवन में ऐसा समय आता है ? क्या वासना द्वारा आक्रान्त होने पर हर एक को मनु की तरह दुःख उठाना पड़ता है ? अवश्य ही मानव-जीवन में ऐसा एक केन्द्र-बिन्दु होता होगा, जहाँ से वह अच्छे या बुरे की तरफ प्रवृत्त होता है। किन्तु वासना द्वारा आक्रान्त होने पर भी दुनिया का प्रत्येक मनुष्य दुष्परिणाम भोगता हुआ दिखलाई तो नहीं पड़ता। पर कवि के लिए सम्भावित अनिष्ट की ओर संकेत करना अधिक आवश्यक है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वासना द्वारा आक्रान्त होने पर परिणाम अनिष्टकारी होना अवश्यम्भावी है—चाहे वह स्पष्ट रूप से हमें दिखलाई न पड़े। दूसरों की जलती हुई वासना की ज्वाला और उसके दुष्परिणाम को सभी देख थोड़े ही पाते हैं। पुरुष और नारी का मिलन होने पर पुरुष में वासना और स्त्री

में लज्जा का उदय होता है इसीलिए 'वासना' के बाद 'लज्जा' सर्ग की अवतारणा हुई है।

कोमल पल्लवों के बीच जैसे छोटी कली छिपी रहती है, वैसे ही लज्जा भी छिपती हुई आती है। लज्जा का उद्‌गम वस्तुतः भाव को छिपाने के लिए ही होता है। गोधूलि भी स्त्री की तरह है। उसके धूमिल पट में छिपे हुए दीपक का प्रकाश जैसे दीप्त होता रहता है अथवा दीपक-राग का स्वर जैसे राग का स्वरूप निश्चित करता है, उसी तरह श्रद्धा को यह जानकर कौतूहल होता है कि न जाने आज कैसे भाव का उदय हो रहा है, जिसमें छिपने का प्रयास होते हुए भी जो रह-रहकर चमक उठता है। काल्पनिक सुखों के कारण मनुष्य अपनी वर्त्तमान स्थिति को भूल जाता है। वह कल्पना के हवाई किले बनाकर मन-मोदक खाने लगता है; पर यथार्थ जगत् में जब कठोर वास्त-विकताओं से उसे लोहा लेना पड़ता है, तब उसके ये मंजुल स्वप्न हवा हो जाते हैं। इसी तरह लज्जा का प्रभाव भी अचिरस्थायी होता है, उसके दूर होते ही वास्तविक स्थिति का बोध हो जाता है। फूले हुए कमल में से पानी में पराग और मकरन्द झड़ने लगता है, जिससे लहरियाँ सुगन्धित हो उठती हैं। इन सुरभित लहरों की छाया में जिस प्रकार बुलबुले का वैभव निखर उठता है, किन्तु वह कितना क्षणस्थायी होता है; उसी प्रकार सुन्दरी के श्वासों की छाया में जो लज्जा की लाली दौड़ जाती है, वह भी क्षणिक होती है। लज्जा की माया भी काल्पनिक मंजुल स्वप्नों तथा पानी के बुलबुलों की तरह है। लज्जा अधरों पर उँगली धरे हुए अर्थात् चेतावनी देती हुई आती है। निर्लज्ज की आँखों का पानी ढलक जाता है, लज्जाशील अपनी आँखों का पानी बनाए रखता है, क्योंकि उसे प्रतिष्ठा का भय बना रहता है। यौवन में सरस कुतूहल का उत्पन्न होना तो स्वाभाविक है ही। शान्त अर्द्ध-रात्रि में लता बढ़ जाती है, यह कवि की कल्पना है। श्रद्धा को ऐसा लगता है, जैसे नीरव निशीथ में लता की तरह लज्जा भी उसकी ओर बढ़ी हुई चली आ रही है। उसे अनुभूति हो रही है कि जैसे लज्जा अपनी कोमल बाँहें फैलाए आलिंगन का जादू पढ़ती हुई इधर ही बढ़ रही है। कौतूहलवश श्रद्धा कह उठती है—'सिर झुकाकर तुम अपने सौन्दर्य के लाल कणों की माला तो नहीं बना रही हो, ताकि मैं तुम्हें देख न सकूँ।

सिर नीचा करके तुम अपना सौन्दर्य बटोर लेती हो और सौन्दर्य के उन कणों से माला गूँथ रही हो।' लज्जाशीला आकृति बड़ी मोहक दिखलाई देती है। लज्जा के समय एक प्रकार की सिहरन हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने भीतर कदम्ब की माला पहना दी हो (कदम्ब का फूल भी रोमांचित-सा हुआ रहता है)। जब किसी भाव का उदय नहीं हुआ रहता, तो मन का सन्तुलन बना रहता है। लज्जा की उत्पत्ति में भी मन की डाल कुछ झुक जाती है। अधिक फलों के भार से पेड़ की डाल झुकती ही है। भावाक्रान्त होने से लज्जाशील भी अपना सिर झुका लेता है।

लज्जा एक आवरण है। घने आवरण के लिए नीला रंग उपयुक्त है। इसलिए लज्जा के आवरण को नीली किरणों से बुना हुआ कहा गया है। लज्जा एक मानसिक भाव है, इसलिए उसका आवरण भी मानसिक अतएव हल्का है। हल्केपन के लिए लज्जा एक बहुत सुन्दर उपमान की तरह कवियों द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है। लाज का यह दुपट्टा सौरभ-सना है, साधारण नहीं। लज्जाशील के लिए लाज का आवरण एक वरदान है, क्योंकि वह छिपना चाहता है और लज्जा उसको इस कार्य में सहायता पहुँचाती है। लज्जा वरदान इसलिए भी हो सकती है कि वह असंयम के मार्ग पर आगे बढ़ने से रोकती है। लज्जा के आगमन के समय श्रद्धा को लगता है, जैसे उसके अंग मोम की तरह हुए जाते हैं और कोमलता के कारण लचक जाते हैं, मुड़-मुड़ जाते हैं। वह अपने आप में सिमिट जाने, छिप जाने, का पूरा प्रयत्न करती है, किन्तु उसे ऐसा जान पड़ता है कि वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो रही है, और इसलिए दूसरे जैसे उसका उपहास कर रहे हैं। मैं लज्जा की सफल अभिव्यक्ति नहीं कर पा रही हूँ, इस अनुभूति के साथ ही जैसे वह गड़ी जा रही है। लज्जा के आगमन के समय भी पर्याप्त लज्जा-प्रदर्शन के अभाव की यह अनुभूति द्रष्टव्य है।

लज्जा में खिलखिलाकर हँसना नहीं हो सकता। बाल्यावस्था में यौवन के प्रवेश के पूर्व हँसी तरल होती है। लज्जा में तरल हँसी स्मित (मुस्कराहट) में परिवर्त्तित हो जाती है। शैशव की अनुभूतियाँ अब नया-नया रंग लेकर उपस्थित होती हैं। वयःसन्धि के समय जो कुछ अनुभव होता है, उसे देखकर भ्रम होने लगता है कि यह सच है या स्वप्न-मात्र है। लड़कपन में संगीत-

प्रियता उतनी नहीं रहती, संगीत का संसार युवावस्था में ही पहले-पहल प्रकट होता है और सारा वातावरण अनुराग से भर जाता है। यौवनोदय के समय की उमंग-भरी गुनगुनाहट में समस्त वातावरण उद्दाम प्रेममय प्रतीत होने लगता है। अनुराग के सुख का अनुभव करने के लिए युवती की अभिलाषा प्रस्तुत होती है और जीवन-भर के बल-वैभव से प्रेमी का सत्कार करती है। प्रेमी सदा ही दुर्लभ या दूरागत होता है, भले ही वह निकट हो।

श्रद्धा लज्जा के प्रति एक तरह से उपालम्भ देती हुई कहती है कि तुम आईं तो सही, पर बाल्यावस्था की उन्मुक्त अनुभूतियों को तुमने झकझोर दिया। किरणों को रज्जु मानकर मैं आनन्द-शिखर पर चढ़ना चाहती थी, पर अब युवावस्था में लज्जा के आते ही सयानापन आ गया। लज्जा की यन्त्रणा ने शैशव की उन्मुक्त कल्पना को मिटा दिया। लज्जा के आगमन के समय किसी को छूने में हिचक होती है। पलकें भी भारी हो जाती हैं। मज़ाक की बातें अधरों तक ही आकर रुक जाती हैं। सहवास की कामना ज्यों ही उत्पन्न होती है, शरीर के रोम खड़े होकर मानो मना कर देते हैं कि ऐसा न करना। भौंहों की काली रेखा मानो अक्षरों की पंक्ति है, जो मौन भाषा बनकर कुछ कह रही है, निषेध कर रही है; किन्तु भ्रम में पड़ी हुई है कि देखें, हमारे मना करने पर भी यह लज्जाशील है अथवा नहीं। श्रद्धा लज्जा से कहती हैं कि तुम कौन हो ? क्या तुम्हारे ही कारण परवश हो मैं आगे बढ़ते-बढ़ते रुक जाती हूँ। मेरी सारी स्वतन्त्रता तुम छीन रही हो—जीवन रूपी वन में जो सुमन स्वच्छन्दतापूर्वक खिले थे, उनको तुम बीन रही हो। बाल्यावस्था का समय उस वन के समान है, जिसमें फूल स्वच्छन्दता से खिलते हैं; किन्तु युवावस्था में लज्जा के आगमन से वह स्वच्छन्दता जाती रहती है।

सन्ध्या का समय था, लाली छिटकी थी। ऐसे समय मानो सान्ध्य-लालिमा का आश्रय लेकर, अर्थात् लाली के बहाने प्रकट होकर लज्जा की छाया-रूपी प्रतिमा (वास्तविक प्रतिमा तो थी नहीं) श्रद्धा के प्रश्न का उत्तर देने लगी—तुम्हें चौंकने की आवश्यकता नहीं। अब तक तुम अपना अपकार करने जा रही थीं, अब मेरे कहने से अपना भला सोचो। जो असंयम के मार्ग पर चलते हैं, उनको पकड़कर मैं रोक देती हूँ—आगे बढ़ने से पहले कुछ सोच-विचार कर लो। मैं चपल सौन्दर्य की धात्री हूँ, धाय की तरह उसकी रक्षा करने

वाली हूँ। सौन्दर्य इस संसार की वस्तु नहीं, दिव्य वस्तु है। हिमालय के अम्बरचुम्बी हिम-शृंगों से उतर कर वह इस पृथ्वी पर कलरव और कोलाहल साथ लिये हुए आया है। सभी अलौकिक वस्तुओं का आकर हिमालय माना जाता है, इसलिए सौन्दर्य जैसी दिव्य वस्तु का उद्‌गम-स्थल भी हिमालय ही माना गया है। शकुन्तला के सौन्दर्य की अलौकिकता का वर्णन करते हुए भी कहा गया है—

कैसे ऐसे रूप की नर तें उतपति होय ?
भूतल तें निकसी कहूँ बिज्जुलता की लोय।

सौन्दर्य प्राणों से भरी हुई विद्युत् की धारा के समान है—वह स्थितिशील नहीं, गतिशील है। वह मांगलिक कुंकुम की शोभा के समान है, जिसके कारण शरीर में ऊषा की सी अरुणिमा छा जाती है और सरल सौभाग्य इठलाता है, खुलकर खेलता है। ऐसी ताज़गी है इस सौन्दर्य में !

सौन्दर्य को देख कर आँखें ठण्डी हो जाती हैं। पुष्प विकसित होकर जिस प्रकार आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार सौन्दर्य भी। वसन्त में यदि पिक बोले और वहाँ माधवी लता भी हो तो उसका स्वर अधिक मादक हो जाता है। इसी प्रकार जीवन की सभी विभूतियों से युक्त यौवन के समय स्वर में एक प्रकार का माधुर्य आ जाता है। गायक और श्रोता दोनों अच्छे गीत में वेसुध से हो जाते हैं। संगीत जैसे नस-नस में गूँज उठता है। बार-बार जो सौन्दर्य आकर्षित करता है, वही गतिशील सौन्दर्य है। वस्तुगत सौन्दर्य के आँखों में आने पर हमारी दृष्टि जैसी होती है, उसी तरह का रूप हमें दिखाई देता है। सौन्दर्य रस बरसाने वाले बादल के समान है। जल-भरे बादल जैसे नीलम के पर्वतों की घाटियों में छा जाते हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य नेत्रों में रस की वर्षा करता है। सौन्दर्य बिजली की चमक के समान है, जिससे अन्तर की शीतलता को ठण्डक मिलती है—अर्थात् जिसका अन्तःकरण स्वच्छ तथा तापहीन हो, वह भी यदि ऐसे अलौकिक सौन्दर्य को देख ले, तो उसका हृदय और भी शीतल हो जाता है। उस सौन्दर्य में वसन्त की सी उमंग पाई जाती है, गोधूलि की ममता मिलती है। प्रातःकाल गाएँ जब चरने जाती हैं, वह समय गोसर्ग कहलाता है। गोधूलि के समय वत्सोत्सुक गायों आदि में ममता

प्रत्यक्ष हो उठती है। सच्चा सौन्दर्य प्रेमी के प्रति ममत्व दिखलाकर ही अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। सौन्दर्य में प्रातःकाल की-सी शीतलता और मध्याह्न की सी प्रखरता मिलती है। उषःकाल की समस्त श्री और शोभा का सार अलौकिक सौन्दर्य में पुंजीभूत रहता है और मध्याह्न की सी पूर्ण भास्वरता उसमें देखी जा सकती है। यदि कोई अत्यन्त रूपवती नायिका अपनी अटारी पर अकस्मात् आ खड़ी हो, तो उस रूप पर दृष्टि पड़ते ही चमत्कार की भावना उदित होती है। पूर्णिमा का चन्द्र भी अकस्मात् पूर्व दिशा से निकल आता है। मानसरोवर की लहरों पर से चाँन्दनी फिसलती हुई जाती है। इसी तरह यह सौन्दर्य भी हमारे मानस की तरंगों (इच्छाओं तथा भावों) पर से फिसल-फिसल कर चलता है, स्थिर नहीं रह पाता, इसलिए उसे बार-बार देखने की इच्छा बनी रहती है। फूलों की पंखुड़ियाँ अत्यन्त कोमल होती हैं; पर वे भी बिखर जाती हैं—न्यौछावर हो जाती हैं उस सौन्दर्य के स्वागत में और वे कुंकुम-चन्दन में अपना मकरन्द मिला देती हैं।

सौन्दर्य विजेता तथा अन्य सुन्दर वस्तुएँ विजित हैं। कोमल किसलय (जो स्वयं सुन्दर हैं) मधुर ध्वनि से सौन्दर्य का जय-जयकार करते हैं। सुख और दुःख यद्यपि परस्पर-विरोधी भाव हैं, किन्तु सौन्दर्य के सर्वातिशायी प्रभाव के कारण विरोधी भाव भी दब जाते हैं (जैसे तपोवन के प्रभाव से सिंह और गाय शान्त रहते हैं) और मन आनन्दोत्सव मनाने लगता है। चेतन प्राणियों के लिए सौन्दर्य विभु का वरदान है, जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के स्वप्न जगते रहते हैं। ऐसे चपल सौन्दर्य की धात्री है लज्जा। जैसे धाय बच्चे की रखवाली करती है, उसी प्रकार लज्जा भी सौन्दर्य को सँभाल कर रखती है और नारी को गौरव और महत्ता का पाठ पढ़ाती है। जब वह उच्छृंखलता की ओर बढ़ने लगती है, तब लज्जा उसे धीरे से आकर समझा देती है कि असंयम के मार्ग की ओर बढ़ोगी, तो ठोकर खा जाओगी। लज्जा का आगमन धीरे-धीरे होता है, क्रोध की तरह एकदम नहीं। जब लज्जा आती है, तब लज्जाशील के प्रति सबके मन में उस लज्जा की रक्षा के लिए प्रवृत्ति हो जाती है। लज्जा का हम सम्मान करते हैं, अतः वह आवर्जना-मूर्त्ति है—सबको राजी करने वाली। लज्जाशील का प्रभाव किसी के प्रति उत्कट नहीं होता, लज्जा के प्रति रोष किसी का

नहीं। रति ने ही लज्जा का रूप धारण किया है। मनोनुकूल के प्रति हमारा अनुराग कभी तृप्त होता ही नहीं। अतृप्ति जैसे संचित रहती है, वैसे ही लज्जा कहती है—मैं हूँ और मेरे साथ मेरी रति की अतृप्ति है। देवसृष्टि में असफलता रही, क्योंकि वहाँ भी तृप्ति न हो सकी। देव-सृष्टि में रति भले ही सांग रही हो, पर मानवसृष्टि में लज्जा के रूप में वह अनुभव-साध्य ही है। लज्जा की अनुभूति अनुभव में ही होती है। रति विलास की खेदमयी लीला है, क्योंकि विलास प्रारम्भ में अमृततुल्य, किन्तु परिणाम में विषतुल्य होता है। भोग के उपरान्त थका-वट के कारण शैथिल्य ही आता है।

लज्जा रति की प्रतिमूर्त्ति है। वह विनम्रता सिखलाती है। नूपुरों के संयोग से जैसे पैरों में नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है, उसी प्रकार सौन्दर्य-दर्पोन्मत्त कामिनी भी लज्जा के कारण समय का ध्यान रख पाती है। लज्जा के कारण स्त्रियों के सरल कपोल लाल हो जाते हैं। स्त्री में प्रगल्भता अच्छी नहीं लगती। आँखों का अंजन वास्तव में लज्जा ही है। लज्जाशील की आँखें ही अच्छी लगती हैं। लज्जा का आँखों पर असर पड़ता है। लज्जा के समय पलकें झुक जाती हैं। अलकों के टेढ़ेपन के समान लज्जा मन की मरोर या उलझन बनकर जगती है। लज्जा के आगमन पर मन में कुछ उलझन पैदा हो जाती है, मन किसी ओर प्रवृत्त हो जाता या हट जाता है। उस समय मन में कुछ न कुछ वक्रता आ जाती है। किशोर सुन्दरियों के मन जब चंचल हो जाते हैं, तब लज्जा ही उनको असंयम के मार्ग पर जाने से रोके रहती है। कान जब हलके से मसल दिए जाते हैं, तब वे कुछ लाल हो जाते हैं। वह लालिमा लज्जा की ही अभिव्यक्ति है।

श्रद्धा लज्जा से कहती है—क्या तुम मुझे बताओगी कि मेरे जीवन का निर्दिष्ट पथ क्या है? इतना तो मैं समझती हूँ कि अंगों की कोमलता के कारण मैं सबसे हारी हूँ। अंगों में यदि विधाता ने कोमलता दी, तो मन भी उसे शासित रखने के लिए कठोर दिया होता; पर वह भी ढीला दिया है, जो थोड़ी-सी प्रशंसा सुनकर फिसल जाता है। पानी से भरे हुए काले बादलों के समान क्यों मेरी आँखें आँसुओं से भर-भर आती हैं? 'आंचल में है दूध और नयनों में पानी।' क्यों मेरे मन में यह इच्छा पैदा

होती है कि मैं एक पुरुष का विश्वास प्राप्त कर उसे आत्म-समर्पण कर दूँ ? छायापथ में एकत्र तारिकाओं का प्रकाश तो मालूम पड़ता है; पर प्रकाश में पार्थक्य नहीं जान पड़ता। उसी प्रकार श्रद्धा कहती है कि तुम्हारी अनुभूति तो मुझे होती है, पर उसका स्वरूप मैं नहीं बता सकती। तारिकाएँ चमकती तो हैं, पर आत्म-गोपन का भाव लेकर। यही दशा लज्जा की भी है, अन्यथा कोमल निरीहता श्रमशीला होकर इस मन में क्यों अभिनय करती ? लज्जा अपनी अभिव्यक्ति के लिए कुछ श्रम भी करती है। लज्जालु निरीह हो जाता है—वह आत्म-संकोचन करने लगता है। लज्जा के श्रमशील अभिनय का ज्ञान श्रद्धा को है; पर उसका पूरा अनुभव पकड़ में नहीं आता। लज्जा का भाव क्रोधादि की तरह स्पष्ट नहीं होता। श्रद्धा कहती है कि मैं बिना किसी सहारे के मन की गहराई में तैर रही हूँ, जैसे कोई तैरने वाला निःसम्बल होकर गहरे सरोवर में तैरता है। पुरुष का आश्रय प्राप्त करने का मैं स्वप्न देखती हूँ और इस स्वप्न से जागरण मैं नहीं चाहती।

चित्रकार स्फुट रेखाएँ बना लेता है और उनमें आकार का आभास देखता है; पर नारी-जीवन का चित्र तो अस्फुट रेखाओं से बना होता है। रंग सकल (अनुपात आदि का ध्यान रखते हुए) होना चाहिए, विकल नहीं। पर लज्जा नारी-जीवन में विकल रंग भर देती है। नारी का चित्र अस्फुट और रहस्यमय ही रहता है। श्रद्धा कहती है कि मैं रुक जाऊँ, ठहर जाऊँ यह तो हो सकता है; पर विचार करने की शक्ति मुझ में नहीं, क्योंकि भावुकता भीतर बोल रही है। पुरुषों को तोलते हुए मैं स्वयं तुल जाती हूँ। जैसे लता वृक्ष में फँसी रह जाती है, उसी प्रकार जिस पुरुष को मैं भुजाओं से बाँधना चाहती हूँ, उसको न बांध कर मैं स्वयं बँध जाती हूँ। मेरे इस अर्पण में आत्मोसर्ग की भावना है, मैं देकर बदले में कुछ लेना नहीं चाहती। इस पर लज्जा कहने लगी कि हे नारी, यह तुम क्या कर रही हो ! तब तो इसका अर्थ यह है कि जीवन के स्वर्णिम स्वप्नों को तुम अपने अश्रुजल के संकल्प द्वारा पहले ही किसी को दान कर चुकी हो। हे नारी, तुम्हारा ही दूसरा नाम श्रद्धा है। विश्वास-रूपी रजत पहाड़ की तलहटी में बहने वाली तुम नदी हो। नदी बहने के लिए समतल बना लेती

है, तुम भी जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष-स्रोत की तरह बहा करो। पुरुष पर विश्वास करती हुई जीवन धारा को तुम सुखमय बनाओ। संसार में सृष्टि के समय से ही देवासुर-संग्राम चलता आया है। देवों की विजय और दानवों की हार हुई। वह तो समाप्त हो चुका ; पर उसमें जो विजय-पराभव हुआ, वह अब भी हम लोगों में चला करता है। जब तक स्त्री-पुरुष का सहयोग न हो, तब तक संघर्षमय जीवन में समतलता नहीं आ सकती। जिस प्रकार देव और असुर आचार-व्यवहार में परस्पर-विरोधी हैं, उसी प्रकार हमारी सत् और असत् प्रवृत्तियों में यही विरोध दिखाई पड़ता है। लज्जा कहती है कि पुरुष के साथ तुम्हें युद्ध नहीं, सुलह करनी होगी। जब दोनों में प्रेम और करुणा रहेगी, तभी यह सन्धि स्थायी रह सकेगी, अन्यथा नहीं। तुमको यह सन्धि लौह-लेखनी से नहीं, स्मिति से लिखनी होगी, तभी यह टूटेगी नहीं।

'कामायनी' का लज्जा-सर्ग अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। कोशोत्सव के समय यह कविता पढ़ी भी गई थी। अनेक आचार्यों की सम्मति में आधुनिक भारतीय साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में विशिष्ट स्थान काव्य की दृष्टि से इस सर्ग को मिलना चाहिए। लज्जा के मनोवेग का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण इस सर्ग में हुआ है और वह भी प्रायः सर्वत्र काव्य की सरसता को लिये हुए है। लज्जा के अनुभावों का मनोरम अंकन निम्नलिखित पद्यों में हुआ है, जो अपनी चित्रात्मकता के कारण सहृदयों द्वारा सदा स्मरण किए जाते रहेंगे —

लाली बन सरल कपोलों में आँखों में अंजन-सी लगती ;
कुंचित अलकों की घुंघराली मन की मरोर बनकर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता की मैं करती रहती रखवाली ;
मैं वह हल्की-सी मसलन हूँ जो बनती कानों की लाली।

अपने 'छायावाद' में प्रसाद ने जिस छाया का उल्लेख किया है, उसका दर्शन उक्त पंक्तियों में किया जा सकता है। कवि अपने भव्य शब्द-विन्यास द्वारा इस प्रकार का चित्र उपस्थित कर देता है, जो रसिकों के मन को मोह लेता है। तीसरी पंक्ति में किशोरावस्थावाली चंचल सुन्दरी के लिए

'चंचल किशोर सुन्दरता' का प्रयोग हुआ है। चौथी पंक्ति में जनक को ही जन्य मानकर 'हलकी-सी मसलन' कह दिया गया है, क्योंकि मसलन के साथ ही लज्जा का प्रादुर्भाव होता है, जो कानों की लाली के रूप में अभिव्यक्त होती है। कहीं-कहीं बड़ी सूक्ष्म पकड़ का परिचय कवि ने दिया है। जिस अवस्था का लोग उपहास किया करते हैं, यदि हम समझ लें कि वह अवस्था हमारी हो गई तो लज्जा के कारण संकोच उत्पन्न होता है—चाहे दूसरे हमें उपहासास्पद समझें या न समझें। यदि दूसरे हमारी उपहास्य स्थिति को समझ लें और हमें उसका ज्ञान हो जाय, तो लज्जा का परिमाण बढ़ जाता है। श्रद्धा की निम्नलिखित पंक्तियों में इसी तथ्य से मिलती-जुलती अभिव्यक्ति हुई है—

मैं सिमिट रही-सी अपने में परिहास-गीत सुन पाती हूँ।

नारी की प्रकृति पर भी बहुत कुछ प्रकाश इस सर्ग द्वारा पड़ता है। नारी में आत्मसमर्पण की भावना स्वाभाविक होती है। वह सदा से पुरुषों के आश्रय में रहती आई है, इसलिए किसी पुरुष पर विश्वास करके उसे आत्म-समर्पण कर देना और बदले में कुछ न चाहना, उसके स्वभाव में शामिल हो गया है। यह सम्भवतः बहुकालव्यापी संस्कारों के कारण हो अथवा स्त्री-जाति को आत्म-समर्पण की यह भावना विरासत में मिली हो। अपने को समर्पित कर देने के कारण नारी चिर-बन्धन में बँध जाती है। किन्तु श्रद्धा जैसी नारी यदि स्वयं बन्धन में पड़ कर दुःख उठाती है, तो वह करुणा, सहानुभूति और विशुद्ध प्रेम द्वारा पुरुष का उद्धार भी करती है। आज के युग में नारी और पुरुष की समस्या विकट से विकटतर होती जा रही है। दोनों में परस्पर प्रतियोगिता चल रही है। पुरुष और नारी का वास्तविक सम्बन्ध एक-दूसरे के सहयोग का है, प्रतियोगिता का नहीं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। एक दृष्टि से वे दोनों एक ही हैं, इसलिए दूसरे के अभाव में परस्पर प्रतियोगिता कैसी? कामायनी काम और रति की दुहिता है। इसलिए लज्जा ने जो उपदेश श्रद्धा को दिया है, वह जैसे माता का अपनी दुहिता को दिया गया उपदेश है। इसमें भी यही कहा गया है कि नारी का पुरुष के साथ संघर्ष वांछनीय नहीं, परस्पर

सुलह होनी चाहिए और वह भी हँसते-हँसते । किन्तु आज की नारी पुरुष की प्रतिस्पर्द्धिनी बन रही है । ऐसी अवस्था में जीवन को समतल बनाना और 'पीयूष-स्रोत' की तरह बहना कैसे सम्भव हो सकता है ?

लज्जा का वर्णन करते हुए सौन्दर्य-वर्णन में भी प्रसाद ने विशेष रस लिया है । विशुद्ध कथानक की दृष्टि से सौन्दर्य का इतना वर्णन शायद अनावश्यक था; किन्तु महाकाव्य में विस्तृत वर्णन के अवसर भी कवि को मिल जाते हैं और वे उतने खटकते नहीं । इस प्रकार के वर्णन कवि की मनोवृत्ति का भी परिचय दे जाते हैं । सौन्दर्य कवि को विशेष रूप से प्रभावित करता है और रह-रहकर जैसे वह उसमें रमना चाहता है । रस लेकर सौन्दर्य का इस प्रकार रहस्यस्मय वर्णन करने वाला कवि हिन्दी-साहित्य में शायद दूसरा कोई नहीं ।

'कामायनी' के इस सर्ग में श्रद्धा की अनुभूति और लज्जा द्वारा दिए गए उत्तर से लज्जा के स्वरूप का अच्छा परिचय मिल जाता है । लज्जा स्वयं एक अस्पष्ट भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति भी कहीं-कहीं धूमिल है । 'लज्जा' कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और मनोवैज्ञानिक ज्ञान का परिचायक है । वर्णन में कवि की आत्मा का स्पन्दन सर्वत्र सुनाई पड़ता है । लाक्षणिक वक्रता और ध्वन्यात्मकता से कविता ओतप्रोत है । लज्जा के लिए छाया-वादी परिधान बहुत ही उपयुक्त हुआ है । प्रसाद की काव्यमयी मनोवैज्ञानिकता कवि-जगत् में उनको बहुत ऊँचा उठा देती है ।

: १८ :

'साकेत' में प्रधान रस

श्रीयुत सावित्रीनन्दन महोदय ने ता० ७ मई सन् १९३३ के 'भारत' में 'गुप्तजी का साकेत' शीर्षक लेख में लिखा था—

"साकेत में कवि ने प्रसंगानुकूल प्रायः सभी रसों का समावेश किया है, केवल समावेश ही नहीं किया है, उनकी सम्यक् व्यञ्जना भी की है। हाँ, प्राधान्य करुण-रस ही का है। यह किसी भी प्रकार से अनुचित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि करुण रस सब रसों का राजा माना ही जाता है।"

किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो 'साकेत' में करुणरस का प्राधान्य नहीं है; विप्रलम्भ शृंगार ही इस महाकाव्य का अंगी रस है। 'माधुरी' के किसी समर्थ समालोचक महोदय ने साकेत नाम को अनुपयुक्त बतलाते हुए लिखा था कि यदि इस महाकाव्य का नाम 'उर्मिला-उत्ताप' होता तो अच्छा रहता। यहाँ पर साकेत के नामकरण की सार्थकता या असार्थकता पर विचार नहीं करना है, इस प्रसंग के उल्लेख करने का अभिप्राय केवल यही है कि साकेतकार ने अपने महाकाव्य में आदि कवि महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा उपेक्षिता उर्मिला को कितना अधिक महत्त्व दिया है, जिसके कारण समालोचकों की दृष्टि में उर्मिला के नाम पर ही इस महाकाव्य का नामकरण-संस्कार किया जाना उपयुक्त जान पड़ता है। साकेत के प्रथम सर्ग को ही देखिये। उसमें लक्ष्मण-उर्मिला के प्रणय-संभाषण को ही महत्त्व दिया गया है। अन्तिम सर्ग की समाप्ति भी

"नाथ, नाथ ! क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया ?

× × ×

स्वामी, स्वामी, जन्म-जन्म के स्वामी मेरे !
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ सबेरे !"

द्वारा हुई है। ७२ पृष्ठों का सबसे बड़ा नवम सर्ग तो उर्मिला के वियोग-वर्णन

को ही अर्पित कर दिया गया है। प्रबन्ध-काव्य में गीति-काव्य का यह आति-शय्य कुछ आलोचकों को खटकता भी है। ४६ पृष्ठों के दशम सर्ग में भी विरहिणी उर्मिला के पूर्वस्मृति-जन्य उत्ताप का ही वर्णन है। इस प्रकार जब इस महाकाव्य के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त, सर्वत्र ही उर्मिला को, उसके विरह-वर्णन को इतना महत्त्व दिया गया है तो कैसे कहा जा सकता है कि 'साकेत में प्राधान्य करुण-रस ही का है ?' साहित्य-दर्पणकार के अनुसार "इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण-रस आविर्भूत होता है और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं, एवं उनका दाह-कर्म आदि उद्दीपन होता है। प्रारब्ध की निंदा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता उच्छ्-वास, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, और चिंता आदि इसके व्यभिचारी हैं।" इसके विरुद्ध विप्रलम्भ शृंगार में रति स्थायी भाव होता है अर्थात् स्त्री-पुरुष के वियोग में जब तक प्रेम-पात्र के जीवित होने का ज्ञान हो, तबतक मिलन की उत्सुकता एवं व्याकुलता से परि-पुष्ट प्रेम की प्रधानता रहती है।

साकेत यद्यपि राम-वनवास, दशरथ-मरण, भरत का आगमन और उनके द्वारा महाराज की दाह-क्रिया आदि करुण-रस की सामग्री प्रस्तुत करता है, तथापि महाराज दशरथ की शोकपूर्ण मृत्यु का दृश्य उपस्थित करना कवि का अभीष्ट नहीं है। इसे हम प्रासंगिक कथा के अन्तर्गत ही समझ सकते हैं, आधिकारिक वस्तु के अन्तर्गत नहीं। उर्मिला-लक्ष्मण के संयोग तथा विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार की ओर ही कवि का विशेष लक्ष्य रहा है। इसलिए साकेत में करुण-रस का प्राधान्य न मान कर विप्रलम्भ शृंगार की ही प्रधानता माननी चाहिए।

रस के सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है। साहित्य-दर्पणकार का मत है "शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।" अर्थात् महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त—इनमें से एक रस अंगी अर्थात् प्रधान होता है, अन्य सब रस गौण होते हैं और अंगी रस के परिपोषक होकर काव्य में स्थान पाते हैं। इस दृष्टि से विचार किये जाने पर संस्कृत आचार्यों के मतानुसार महाकाव्य में करुण-रस को अंगी नहीं बनाना चाहिए। इसीलिए संस्कृत साहित्य में न कोई दुःखान्त नाटक है, न दुःखान्त महाकाव्य। शायद इसलिए

भी साकेतकार ने अपने महाकाव्य में करुण-रस को प्रधानता न दी हो, किन्तु इसके उत्तर में तो यह कहा जा सकता है कि गुप्तजी संस्कृत-आचार्यों के अनावश्यक बन्धन में जकड़े रहने के पक्षपाती नहीं हैं क्योंकि हिन्दी कविता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए एक बार उन्होंने लिखा था—

"महाकाव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दबाव डालते हैं। जिस कथा में उनकी आवश्यकता न हो, उसमें भी उन्हें लाने से अप्रासंगिकता का डर है। पर उनके बिना महाकाव्यत्व नहीं रहता। वन-विहार-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन, गिरि-वर्णन, जल-केलि-वर्णन, आखेट-वर्णन और समुद्र आदि के वर्णन, सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गये हैं। परन्तु इस विषय में हमें परतन्त्र रहना उचित नहीं।"

किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि दशरथ को आलम्बन बना कर करुण-रस के वर्णन द्वारा पाठकों को रुला कर गुप्तजी कौनसे अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होते ? वस्तुतः विस्मृता उर्मिला के वियोग-वर्णन में ही साकेत का वैशिष्ट्य अन्तर्हित है।

प्रो० श्री नागरमल सहल एम० ए० नवम सर्ग के निम्नलिखित आर्या छन्द को लेकर साकेत का अंगी रस करुण-विप्रलम्भ मानते हैं—

करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में
और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो
उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'

उन्हीं के शब्दों में "मूर्तिमती करुणा से रोये जाने का कारण पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया कि भवभूति तो मेरा ही अभिन्न अंग है, उसका मुझसे अलग कोई अस्तित्व ही नहीं; जो मेरी ही विशेष भूति (ऐश्वर्य) है, उसको संसार की अथवा शिव की भूति कैसे कहा जा सकता है ?"

उपर्युक्त छन्द में गुप्तजी ने भवभूति को करुणा ही का अंग बतला कर करुणरस के वर्णन में सिद्धहस्त उत्तररामचरित के प्रणेता कवि के प्रति अपनी जो श्रद्धांजलि अर्पित की है, उससे अधिक किसी भी कवि की प्रशंसा में और कहने को रह भी क्या जाता है ? हर एक सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने अभिवादन-

प्रणाली का अनुसरण किया है। इस सर्ग में महाकवि भवभूति को स्मरण करने का मुख्य उद्देश्य यही है कि वे करुण-रस के वर्णन में अद्वितीय हैं और इस सर्ग में उर्मिला का करुणात्मक विरह-वर्णन ही अभीष्ट है और साकेत का यही सर्ग है जो इस काव्य का प्राण कहा जा सकता है। 'उत्तर' में 'और अधिक तू रोई' कह कर शाब्दी व्यंजना द्वारा उत्तररामचरित की ओर जो संकेत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि जो करुण विप्रलम्भ उत्तररामचरित में है, वही 'साकेत' में भी; नहीं तो इस सर्ग में भवभूति और विशेषतः उनके उत्तररामचरित को स्मरण करने की आवश्यकता ही क्या थी ?

यह तो सच है कि साकेत में करुण-रस का प्राधान्य नहीं है किन्तु विप्रलम्भ शृंगार को भी इस काव्य का अंगी रस मानना उपयुक्त नहीं। उर्मिला का विरह कोई ऐसा विरह नहीं है जिसमें प्रिय के कुछ समय के लिए वियुक्त होने मात्र का दुःख हो। उत्तररामचरित की सीता के विरह की भाँति चाहे यह निरवधि न हो किन्तु यह तो उस नायिका का विरह है जो अपने विवाह के थोड़े ही दिनों बाद दैवदुर्विपाक से अपने प्राणप्यारे पति से वियुक्त हो गई है और वह भी एक दो वर्ष के लिए नहीं, युवावस्था से शुरू होकर १४ वर्ष की लम्बी अवधि तक ! इसको काटना कितना मुश्किल था, यह साकेत के सहृदय कवि ने इन दो पंक्तियों में ही बतला दिया है—

"अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार।"

कौन ऐसा भावुक पाठक होगा जो उर्मिला की इस दृग-जल-धार के साथ करुणा से द्रवीभूत हो दो आँसू न बहाए ?

उर्मिला-लक्ष्मण का विरह साधारण पति-पत्नी का ऐकान्तिक विरह नहीं है जिसमें नायक-नायिका कराह-कराह कर करवटें बदल किसी तरह विरह की अवधि को काट देते हैं किन्तु यह तो ऐसा विरह है जिसके कारण प्रजा भी शोक-संतप्त है और हो भी क्यों नहीं ? लक्ष्मण भी तो उन्हीं जनरञ्जन मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के अनुज ही तो ठहरे और उर्मिला भी जगज्जननी सीता के आदर्शों का अनुकरण करने वाली उन्हीं की गुणानुरूपा बहिन ही तो थी। यह बिरह राज-परिवार तक ही सीमित नहीं है किन्तु यह इतना देश-

व्यापी है कि इसके कारण अन्न, गुड़, गोरस सबकी वृद्धि होने पर भी साधारण कृषक अबला को भी यही कहना पड़ता है—

"किन्तु स्वाद कैसा है, न जाने इस वर्ष हाय !
यह कह रोई एक अबला किसान की।"

इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि विरह में उर्मिला को प्रतिक्षण अपने प्रिय के कष्टमय वनवास के जीवन का ख़याल बना रहता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "प्रिय के कुशल-मंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका-सा मेल कर देता है। × × × × प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिए वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है।"

साकेत में लक्ष्मण-उर्मिला का विरह कुछ दिनों मात्र का ही विरह नहीं है जिससे इसको केवल विप्रलम्भ शृंगार ही कहा जा सके। इसमें विरह के साथ-साथ शोक-मिश्रित कारुण्य भी है। इसलिए साकेत में न करुण-रस प्रधान है, न विप्रलम्भ शृंगार ही किन्तु करुण-विप्रलम्भ ही उत्तररामचरित की भाँति काव्य का अंगी रस है।"

यह माना कि समस्त विश्व के साहित्य में करुणा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, स्थायी साहित्य-प्रासाद अधिकांश में करुणा की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित रहता है। क्रौंच-पक्षी के करुण-क्रन्दन को सुनकर ही आदि कवि के मुख से अनायास कविता के रूप में उद्‌गार निकल पड़े थे। किन्तु जिस करुणा में मरण, हत्या और कोरी हाय-हाय हो, वह शोकमूलक ही हो सकती है, रतिमूलक नहीं। शोकमूलक करुण-वर्णन से रस-विच्छेद होने के भय से बहुत से आचार्यों ने मरण-दशा का वर्णन करना ही उचित नहीं समझा है। रति अथवा प्रेम के कारण मानव-हृदय का जितना प्रसार होना सम्भव है, उतना शोक और हाहाकार से नहीं। साहित्य-शास्त्र में यही प्रेम संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ-शृंगार—इन दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है। किन्तु वियोग शृंगार के वर्णन ने किसी भी साहित्य में जितना स्थान पाया है, उतना संयोग शृंगार के वर्णन ने नहीं। वियोग का वर्णन करुणोत्पादक होने से हृदय को स्पर्श

करने वाला होता है किन्तु यहाँ पर इस भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए कि करुणा और करुण-रस एक ही बात है। करुणा, जैसा ऊपर बतलाया गया है, शोक-मूलक भी हो सकती है और रति-मूलक भी। साकेत के नवम सर्ग में जिस करुणा का वर्णन हुआ है वह शोकमूलक न होकर रतिमूलक ही है, इसलिए साकेत में करुण-रस का प्राधान्य न होकर विप्रलम्भ श्रृंगार की ही प्रधानता है। 'करुणे क्यों रोती है ?' इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि साकेत के नवम सर्ग में करुणा का वर्णन प्रचुर परिमाण में किया गया है किन्तु कोई भी वर्णन करुणोत्पादक होने से ही करुण-रस की निष्पत्ति नहीं कर सकता। यहाँ जिस करुणा का उल्लेख हुआ है, वह रति के संचारी के रूप में ही आई है, करुण-रस के स्थायी भाव शोक का पर्याय बन कर नहीं।

विप्रलम्भ श्रृंगार पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण—चार प्रकार का होता है। साकेत में विप्रलम्भ श्रृंगार के कौन से भेद की प्रधानता है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। साहित्य-दर्पण में करुण-विप्रलम्भ को निम्नलिखित परिभाषा दी गई है—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः ॥

अर्थात् युवक नायक और युवती नायिका में से एक के लोकान्तर में चले जाने पर जब दूसरा शोक से व्याकुलचित्त होकर विलाप करता है उस हालत में करुण विप्रलम्भ होता है किन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से मिलने की फिर आशा हो। करुणात्मक वियोग का वर्णन करते हुए नवरसकार भी लिखते हैं—"जहाँ पर मिलन की आशा नहीं रहती, वहाँ पर विरह करुण में परिणत हो जाता है किन्तु जहाँ पर करुण के साथ मिलन की असम्भव आशा रखते हुए भी रति का भाव वर्त्तमान रहता है, वहाँ करुणात्मक वियोग श्रृंगार होता है।"

किन्तु लक्ष्मण-उर्मिला के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। यहाँ न तो लक्ष्मण का लोकान्तर-गमन ही है और न मिलने की आशा ही असम्भव है। उर्मिला को पूरी आशा है कि उसका अपने प्राणप्यारे पति से मिलन होगा। उसके धृति संचारी की व्यंजना तो देखिये—

"कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात ।
धीरज धर अवसर आने दे सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात ।"

नवरसकार ने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—'नायिकाभेद में प्रोषित-पतिका के उदाहरण प्रवास के ही सम्बन्ध में हैं, जिनका वर्णन हिन्दी साहित्य में प्रचुरता से मिलता है ।' इसी के साथ उर्मिला की निम्नलिखित उक्ति पढ़िये—

" प्रोषितपतिकाएँ हों,
जितनी भी, सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ
समदुःखिनी मिलें तो,
दुःख बँटें, जा, प्रणय-पुरस्सर ले आ ।"

यहाँ पर गुप्तजी ने उर्मिला को स्पष्ट ही प्रोषितपतिका बतलाया है । नवरसकार के मतानुसार यदि प्रोषितपतिका का वर्णन प्रवास के समय ही होता है तो साकेत में विप्रलम्भ शृंगार के प्रवास नामक भेद की ही प्रधानता मानी जायगी, करुण-विप्रलम्भ की नहीं । करुण-विप्रलम्भ शृंगार वहाँ होता है जहाँ मिलने की आशा असम्भव रहते हुए भी रतिभाव वर्त्तमान रहता है । उत्तररामचरित के सम्बन्ध में तो यह सच है कि राम-सीता-वियोग के निर-वधि होने तथा मिलने की आशा न होने से वहाँ करुण-विप्रलम्भ है किन्तु साकेत के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता । यदि यह वियोग निरवधि होता तो उर्मिला के दुःख की कोई सीमा न होती । "साधारण वियोग जहाँ पर मिलन की आशा नहीं रहती, करुणात्मक हो जाता है, वहाँ धैर्य जाता रहता है और चित्त शोक से पूर्ण हो जाता है ।" लक्ष्मण के वियोग से उर्मिला का जीवन भले ही वेदना, विषाद एवं कष्टपूर्ण रहा हो किन्तु इसे हम शोकपूर्ण नहीं कह सकते । विप्रलम्भ के करुणात्मक होने की हालत में ही धैर्य का नाश एवं शोक की उत्पत्ति होती है ।

अब इस भ्रान्त धारणा का निराकरण करना भी आवश्यक है कि 'उत्तर में और अधिक तू रोई' द्वारा उत्तररामचरित की ओर जो संकेत किया गया है

वह इसलिए कि साकेत और उत्तररामचरित दोनों के रस में साम्य है। यदि हम अवान्तर भेदों को छोड़ दें तो साकेत और उत्तररामचरित दोनों में ही विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है और इस दृष्टि से विवेचन करने पर दोनों में रससाम्य स्पष्ट ही है किन्तु यदि हम अवान्तर भेदों की सूक्ष्मता को दृष्टि में रखें तो हमें यही कहना पड़ेगा कि साकेत का विप्रलम्भ प्रवासजन्य है और उत्तररामचरित का विप्रलम्भ करुणात्मक। किन्तु दोनों के रस का यदि कोई व्यापक नाम रखना हो तो वह विप्रलम्भ ही होगा। उस आर्या छन्द के आधार पर यह कहना कि उत्तररामचरित में यदि करुण-विप्रलम्भ है तो साकेत में भी वही है, युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। सीता की करुणा और उर्मिला की करुणा में चाहे प्रकार की दृष्टि से साम्य भले ही हो, परिमाण की दृष्टि से तो उनमें बहुत अन्तर है। सीता को आधार नहीं, कोई आश्वासन नहीं, किन्तु उर्मिला को आशा है, आश्वासन है, गौरव है कि वह अपने पति के तप में विघ्न न बनकर उनकी तपःसिद्धि में योग दे रही है, तो फिर इसमें शोक कैसा? १४ वर्ष की लम्बी अवधि तक विषम वियोग-ज्वाला में जलना एक बड़ी भारी कठोर तपस्या है लेकिन उर्मिला बड़ी धीरता और वीरता से इस अवधि को पूरा करना चाहती है। वह यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती कि लक्ष्मण अयोध्या में अवधि के पहले ही लौट आएँ। उन्माद की हालत में भी उसको यह विचार तक सह्य नहीं है—वह कह उठती है—

प्रभु कहाँ, कहां किन्तु अग्रजा
कि जिनके लिये था मुझे तजा?
वह नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे!
हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे।

उर्मिला के इस प्रकार के उद्‌गार उसके प्रति गौरव और सम्मान की भावना जाग्रत करते हैं। उसके विरह में जो वेदना और कसक है, वह उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है और इसके लक्ष्मण-प्रवास से प्रसूत होने के कारण साकेत में प्रवास विप्रलम्भ का ही प्राधान्य समझना चाहिये, करुण-विप्रलम्भ का नहीं।

बाबू गुलाबरायजी के शब्दों में भी "साकेत में शुद्ध करुण रस का माना जाना तो बिलकुल असंगत होगा क्योंकि उसमें इष्ट का अनिष्ट हो जाता है

और बिलकुल आशा छूट जाती है । सो लक्ष्मणजी के जीते जी ऐसी बात कैसे हो सकती थी ? दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थ में रति भाव संयोग रूप में और वियोग में स्मृतिरूप में प्रायः सब जगह वर्त्तमान है । इस कारण शुद्ध करुण नहीं हो सकता। शुद्ध करुण और करुण-विप्रलम्भ का अन्तर भी इसी बात में है कि शुद्ध करुण रस में आशा बिलकुल नहीं रहती, करुण-विप्रलम्भ में एक असम्भव आशा रहती है और उसी के साथ रति भाव रहता है ।

इस ग्रन्थ में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष हैं किन्तु संयोग की झलक केवल इसलिए दिखलाई गई है कि दम्पति के परस्पर प्रेम को ही देखकर हम उर्मिला और लक्ष्मण के त्याग की मात्रा का अनुमान कर सकते हैं । यदि लक्ष्मण स्वभाव से ही विरक्त होते तो हम उनके त्याग की इतनी सराहना न करते । वियोग को तीव्रता देने के लिए ही संयोग की झलक मात्र दिखाई गई है। प्रवास कई कारणों से हो सकता है । हम यह अवश्य मानेंगे कि यह प्रवास साधारण प्रवास से कुछ भिन्न था किन्तु यह 'कार्यवश' के व्यापक विभाग में आ जाता है। वियोग शृंगार में दो बातें होती हैं—रतिभाव का होना और अभीष्ट की सिद्धि न होना, किन्तु सिद्धि की आशा रहनी चाहिए। यह आशा निश्चित होनी चाहिए। उत्तररामचरित में राम और सीता की आशा का कोई निश्चित रूप नहीं था । साकेत के नवम सर्ग में ये सभी तत्त्व मौजूद हैं। देखिये नीचे के छन्द में रति, आशा और अवधि की सभी बातें मौजूद हैं। उर्मिला हेमंत से कहती है—

"हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा,
करता रह प्रतिवर्ष यहाँ तू फिर फिर अपना फेरा।
व्याज-सहित ऋण भर दूँगी मैं, आने दे उनको हे मीत,

× × ×

अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको ।"

उर्मिला का उन्माद करुणाजनक है किन्तु उन्माद की दशा वियोग शृंगार के सभी रूपों में हो सकती है । साकेत को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर विप्रलम्भ

शृंगार पूर्ण रूप से मिलेगा। इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा भ्रम करुण के साधारण और रस शास्त्र के पारिभाषिक अर्थ के कारण भी हो गया है। हम साधारण शोक की परिस्थिति को भी करुणाजनक कह देते हैं। विषाद विप्रलम्भ शृंगार के संचारी भावों में है भी—उर्मिला की उक्तियों में अधिकतर यही विषाद दिखलाई पड़ता है।"

: १९ :

'लहर'-समीक्षा

छायावाद की भावना में वस्तुओं के बाह्य रूप का स्वतः, कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। बाह्य पदार्थ अधिकतर कवि की आभ्यन्तर विचारधारा की छाया अथवा प्रतीक के रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। पन्तजी की प्रसिद्ध कविता 'छाया' बाह्यार्थनिरूपिणी नहीं है, उसे बहुतांश में कवि की मानसिक विचारधारा का प्रतीक ही समझिये। छायावाद में प्रतीक-पद्धति की प्रधानता होने के कारण कोई-कोई छायावाद को प्रतीकवाद भी कह दिया करते हैं। छायावाद और प्रतीकवाद के तारतम्य का विवेचन यहाँ अभिप्रेत नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि छायावादी रचनाओं में प्रतीक-विधान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बहुत सी रचनाओं का नामकरण भी प्रतीक-पद्धति को लेकर किया गया है।

प्रसादजी की 'लहर' के लिए भी हम यही बात कह सकते हैं। लहर का आकार-प्रकार, उसका बाह्य रूप कवि का प्रकृत विषय नहीं है, आनन्द की वह लहर ही कवि का एकमात्र तथ्य है जो मनुष्य के मानस-समुद्र में उठा करती है और उसके जीवन को सरस, शीतल और स्निग्ध बनाती रहती है। 'लहर' में उनतीस छोटी तथा चार बड़ी कविताएँ संगृहीत हैं। सबसे पहले लहर पर ही एक कविता है जिसको लेकर पुस्तक का नामकरण किया गया है। जीवन में शुष्कता आती हुई देख कर लौटती हुई आनन्द की भावनाओं से ठहरने के लिए कवि अनुनय-विनय-सी करता है। उसके कुछ गीतों का विश्लेषण नीचे दिया जाता है।

'निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे'

'यह कविता रहस्य-भावना से समन्वित है। प्रसाद एक साथ ही कवि और दार्शनिक दोनों हैं। कॉलरिज ने कहा है—No man was ever yet a great poet without being at the same time a profound philo-

sopher. अर्थात् दार्शनिक हुए बिना अभी तक कोई महान् कवि नहीं हो सका है। इस गीत में प्रेमी अपनी प्रेमिका को देखने की इच्छा करता है और वह बालों के अन्धकार में छिपने की विफल चेष्टा करती है। बालों से आच्छादित मुख को देखने की तो इच्छा और भी बढ़ जाती है, इससे तो कुतूहल और भी सजग हो जाता है। उस प्रियतम के चरण इतने सुकुमार हैं कि आहट न सुनाई पड़ने के लिए जब वह दबे पाँव आता है? (आती है) तो दबा कर चलने से एड़ियों में खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई उषा की लालिमा के रूप में झलकती है। तुम यही तो चाहती हो कि मैं तुम्हारा रूप न देख लूँ—चलो, यही सही, मैं अपना सिर नीचे किये लेता हूँ, तुम भरपूर आँखमिचौनी का खेल खेल लो, किन्तु तुम छिप ही कैसे सकती हो? छिपने की चेष्टा करने के पहले अपनी हँसी तो रोको—हँस कर तुम अपने आप को व्यक्त कर ही दोगी। चरम सौन्दर्य का रहस्य-रूप इस गीत में प्रकट हुआ है। यह सृष्टि वास्तव में उस अव्यक्त का ही व्यक्त प्रसार है। किसी न किसी रूप में उस अनन्त ज्योतिर्मय का आभास मिल ही जाता है। अव्यक्त भी किस प्रकार प्रेम का आलम्बन बन सकता है, यह भी इस गीत में सूचित कर दिया गया है। प्रसाद की इस कविता में हमें सूफियों के से रहस्यवाद के दर्शन होते हैं क्योंकि सूफी भो परमात्मा को अनन्त सौन्दर्य और प्रेम का आगार मान कर भाव-मग्न हुआ करते हैं तथा सृष्टि के सुन्दर पदार्थों में उसी अव्यक्त सत्ता का प्रतिबिम्ब देखते हैं। सौन्दर्य और प्रेम के वर्णन करने में प्रसाद की मनोवृत्ति विशेष रूप से रमती थी। यौवन और सौन्दर्य के अनेक मनोरम चित्र प्रसाद ने हिन्दी संसार को भेंट किये हैं।

"मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी"

'लहर' का यह गीत 'हंस' के आत्मकथा अंक में सबसे पहले दिया गया है। अनित्यता के कारण कवि को आत्मकथा कहने की इच्छा नहीं होती। आत्मकथा सुन कर दाम्भिक समाज में गर्व का ही उदय होगा। कवि की कोमल मनोवृत्ति सरलता की विडम्बना नहीं देखना चाहती। अतीत के सुन्दर स्वप्न रह-रह कर कवि को याद आते हैं। सौन्दर्य और सुख के क्षणिक सुखों की स्मृति को वह बनाये रखना चाहता है। 'जीवन

के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना' 'मातृगुप्त' का यह गीत भी इस प्रसंग में अनायास स्मरण हो आता है। प्रसाद का कवि भावनोपजीवी अधिक है, व्यावहारिक उतना नहीं। 'लहर' की इस कविता के विशेष स्पष्टीकरण के लिए विनोदशंकर व्यास का 'प्रसाद और उनका साहित्य' देखिये।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

प्रसादजी का यह गीत पलायनवादी मनोवृत्ति के निदर्शन स्वरूप (जो छायावादी काव्य की एक प्रमुख विशेषता समझी जाती है) बहुधा उद्धृत किया जाता है। संसार के कोलाहल और संघर्ष को छोड़कर कवि किसी शान्त एकान्त स्थान का आश्रय लेना चाहता है जहाँ उसे कुछ राहत मिल सके। इसके अतिरिक्त वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःखात्मक सृष्टि को उसके पारमार्थिक रूप में देखने की भी आशा करता है। वहाँ उसे शुद्ध सच्चे ज्ञान की झलक मिल सकेगी और वह सृष्टि को भी ईश्वर का ही स्वरूप समझने लगेगा क्योंकि "श्रम और विश्राम के उस सन्धिस्थल पर ज्ञान की दिव्य जोति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है। क्षितिज, जिसमें प्रातः सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का मिलन-स्थल सा दिखाई पड़ा करता है।" कवि ऐसे स्थान में जाना चाहता है जहाँ अश्रु के रूप में वेदना ढलक रही हो। तारे सन्ध्या के अश्रु कहे गये हैं। इससे कुछ-कुछ मिलता जुलता भाव ऋग्वेद की एक ऋचा तथा गीतांजलि में भी मिलता है।

"आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं, प्रयत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधियद पांस्तुभिश्चराव, प्रप्रेंरव ईखयावहै शुभेकम्।
वशिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषि, चकार स्वपामहोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अहना, यान्नुद्यावस्तमन्या दुवासः॥"

अर्थात् मैं और मेरा प्रियतम एक ही नाव पर बैठकर बहुत दूर समुद्र में गए। मैं अपनी मौज में नाव पर लहरों के साथ झूमने लगा। मेरे प्रियतम ने नाव पर मुझे अपने बगल में बैठा लिया और मुझे एक गान सुनाने की आज्ञा देकर गौरवान्वित किया। यह एक अद्भुत अवसर था जब मेरे

प्रियतम ने मुझे अपने प्रभातों और सन्ध्याओं को संगीतमय बनाने का आदेश दिया।

"कथा छिलो एक तरीते केवल तुम आमि,
जाब अकारणे भेसे केवल भेसे;
त्रिभुवने जानवेना केउ आमरा तीर्थगामी,
कोथाय जेतेछि कोन देशे से कोन देशे
कूलहारा से समुद्र माझ खाने,
शोनाब गान एकला तोमार काने,
देउयेर मतन भाषा बाँधन-हारा,
आमार सेइ रागिणी शुन्बे नीरव हेसे।"

अर्थात् यह निश्चय हुआ था कि एक नौका में केवल हम दोनों बैठकर अकारण तैरते रहेंगे। तीनों भुवनों में यह कोई न जान पाएगा कि हम तीर्थयात्री हैं, कहाँ किस देश को हम जा रहे हैं। उस अनन्त सागर में मैं अकेला तुम्हारे कानों में गीत सुनाऊँगा। उस गीत की भाषा तरंगों की भाँति निर्बन्ध होगी; उस रागिणी को तुम चुपचाप हँस-हँस कर सुनोगे।

(गीतांजलि)

प्रसादजी के लिए कहा जाता है कि वे यात्रा बहुत कम किया करते थे। दशाश्वमेध घाट से मान-मन्दिर होकर अपनी बैठक की ओर आते-जाते उन्हें बरसों बीत जाते थे। "एक बार कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और एक दो बार प्रयाग—बस यही उनकी यात्रा का विवरण है।" 'हे सागर सङ्गम अरुण नील!' इस गीत के लिखने में उन्हें पुरी के समुद्र-तट से प्रेरणा मिली थी—ऐसा कहा जाता है। समुद्र के सङ्गम पर टक्कर मारती हुई लहरें ऐसी जान पड़ती हैं मानो अपनी मर्यादा छोड़कर लहरों के द्वारा समुद्र अपना हृदय ही खोलकर रख रहा हो। खारे उच्छ्वासों में उनकी आकांक्षाएँ ही प्रकट हो रहीं हैं। 'हिम-शैल-बालिका को तूने कब देखा!' गंगा को तूने कब देख लिया कि तू उससे मिलने के लिए इतना उतावला हो रहा

है ? नदियों के प्रेमी के रूप में कवि लोग समुद्र का वर्णन करते आये हैं।* देवलोक से गंगा का आगमन हुआ है। वह देवलोक की अमर कथा की माया को छोड़कर तुझसे मिलने आ रही है। इस मिलन-सुख की लालसा के स्वप्न को वह चरितार्थ करेगी। वह गंगा तेरी ही गोद में विश्राम माँगती है। प्रकृति-पुरुष का दार्शनिक सम्बन्ध भी यहाँ व्यक्त हुआ है। प्रकृति पर मानवी भावनाओं का मधुर आरोप (जो छायावादी रचनाओं में विशेषतः मिलता है) इस गीत में भी द्रष्टव्य है।

'उस दिन जब जीवन के पथ में' यह गीत भगवान् बुद्ध के सारनाथ में आकर पहले-पहल संघ स्थापित करने तथा उनके व्यक्तित्व के व्यापक आकर्षण को लक्ष्य में रख कर लिखा गया है। कवि की मनोवृत्ति इस गीत में विशेष रमती हुई जान पड़ती है। इसलिए यह गीत पाठकों के लिए रमणीय हो गया है। संन्यासी के वेश में अकिंचन की भाँति भगवान् बुद्ध सारनाथ आये हैं। यद्यपि उनके हाथ में छिन्न पात्र मात्र था, तथापि उन्होंने अपने व्यक्तित्व से सबको वशीभूत कर लिया। इस अकिंचन संन्यासी के चरणों में अपना संचित धन अर्पित करने के लिए प्रेम की नदी उमड़ पड़ी। छायावादी कविताओं में रूपकातिशयोक्ति का भी विशेष प्रयोग देखा जाता है, किन्तु इससे यह भ्रान्त धारणा न बना ली जाय कि रूपकातिशयोक्ति और छायावादी काव्य का अभिन्न सम्बन्ध है। 'बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से ?' 'आँसू' का यह पद्य रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण है, किन्तु आँसू के इस वर्णन में तो बहुत समय से चली आती हुई नख-शिख की परम्परा का ही अनुसरण है, और मुख के लिए विधु तथा बालों के लिए जंजीरों को उपमान बनाकर जो सौन्दर्यचित्रण किया गया है उसमें अर्थ-ग्रहण करने में कोई विशेष दिक्कत नहीं होती। किन्तु छायावादी कवियों ने लाक्षणिक वक्रता के आधार पर प्रस्तुत के लिए जो उपमान रक्खे, वे

---

*मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥
(रघुवंश, त्रयोदश सर्ग, ६ श्लोक)

साहित्य में सर्वप्रचलित नहीं थे। छायावादी कवि किसी भी प्रकार के बन्धन स्वीकार करने के पक्ष में न थे। नवीन शैली, नवीन भाव तथा नवीन छन्द के कारण वे रूढ़िबद्ध हिन्दी काव्य-साहित्य को उन्मुक्त वातावरण में ले आना चाहते थे और इस प्रयत्न में उनको बहुत कुछ सफलता मिली, इसमें भी कौन संदेह कर सकता है ? 'लहर' में से नवीन शैली की रूपकातिशयोक्ति के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) काँटों ने भी पहना मोती=कठोर-हृदय मनुष्यों के नेत्रों में भी भावावेश के कारण आँसू आ गए, अथवा कुटिल हृदयों ने भी शोभा धारण की।

(२) फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं=हृदय के कोमल भाव व्यक्त होने लगे।

(३) हृदयों ने न सम्हाली झोली=जनता अपना सर्वस्व लुटाने के लिए, न्यौछावर कर डालने के लिए, तैयार हो गई।

(४) कहाँ छिपा था ऐसा मधुवन !=प्रेम का इतना संचित भण्डार कहाँ छिपा था ?

यद्यपि अभिव्यक्ति के प्रकारों की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि वे नायिका की विलासचेष्टाओं की भाँति अनेक रूप धारण करते रहते हैं तथापि अभिव्यंजना के समस्त रूपों का समावेश लक्षणा और व्यंजना में किया जा सकता है जिसका बड़ा मार्मिक विवेचन संस्कृत-साहित्य में हुआ है। जनता जिस वेग से भगवान् बुद्ध के प्रति आकृष्ट हुई, उसकी आशा स्वयं बुद्ध को भी न थी। वे भी इस भावावेश को देखकर चकित हो उठे थे। छिन्न पात्र में इतना रस सम्हालने की शक्ति न थी। आनन्द से विह्वल होकर आशा अपने धन को मिला हुआ समझ कर बटोर रही है। **'आँखों से अलख जगाने को'** इस गीत में तीन कल्पनाएँ हैं। (१) उषा का भैरवी के रूप में चित्रण है। यह किसी भीषण आकृति वाली स्त्री की आँखों की मादकता और ललाई है। यह स्त्री किसी अज्ञात का संकेत कर रही है। (२) उषा पूर्व दिशा की लाज भरी चितवन है। यह रात को क्रीड़ा-स्थल में घूम आई है। रात को जागने की खुमारी है जो नेत्रों में दिखलाई पड़ती है। (३) समुद्र के तट पर लाल वर्ण है मानो समुद्र का अंचल

लहरों के रूप में उद्वेलित हो उठता है और वही, अपनी छलछलाती हुई आँखों को पोंछ रहा है। समुद्र के हृदय को न जाने किसने व्यथित कर दिया है! रोने के कारण आँखें लाल हो ही जाया करती हैं। इस प्रकार इस गीत में क्रमशः भीषणता, शृंगारिकता तथा कारुण्य—तीनों भावनाओं का एकत्र समाहार है। कवि अपनी मन की लहरियों के अनुरूप उषा को भी भिन्न-भिन्न रूप में देखता है। यहाँ कल्पना ही अधिक सजग दिखाई पड़ती है।

'**तुम्हारी आँखों का बचपन!**' में भी कवि व्यतीत जीवन के लिए आह भरता है। आँखों में बचपन तब होता है, जब यौवन के प्रथम चिन्ह दिखलाई पड़ने लगते हैं। एक समय था जब ये आँखें हँस-हँस कर अपना मन हार जाती थीं। वसन्त भी तब सहचर बना घूमता था, फेरा लगाया करता था। मलय-पवन भी तब पुलकित हो जाया करता था। स्नेहमय सुकुमार संकेतों में बिछल कर जब ये आँखें थक जाती थीं तो आँसू गिराने लगती थीं—गीलापन छिड़क देती थीं—प्रेम के संकेत पाते ही आँखें आर्द्र हो जाती थीं। किशोरावस्था में वृत्तियाँ बहुत सरल सुकुमार हुआ करती हैं। कवि पूछता ही रह जाता है—

सरलता का वह अपनापन—
आज भी है क्या मेरा धन—

'**वे दिन कितने सुन्दर थे!**' यह गीत 'तेहि नो दिवसा गताः' का स्मरण दिलाता है। सावन के घने बादलों का सौन्दर्य इन आँखों की छाया मात्र था, क्षितिजव्यापी अम्बर में फैले हुए बादल सरिता के कूल को चूम-से रहे थे। प्राणों का पपीहा जिस हरियाली को देख कर पुकार उठता है, ऐसी हरियाली रस की वर्षा कर रही थी। उन चित्रों को देख कर मेरे जीवन की स्मृतियाँ भी जाग पड़ती थीं। वर्षा में कवि को यौवन याद आता है। वैसे भी वर्षा को उद्दीपन विभावों में माना गया है। 'मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथावृत्तिचेतः।' 'मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्राण समाजा रे।' प्रसाद की ये पंक्तियाँ भी बहुधा उद्धृत की गई हैं। यहाँ कवि प्रिय को सम्बोधित करता है। 'जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचन्द्र दिखा जाओ' इसमें भी कवि का हृदय प्रिय के दर्शन के लिए आकुल-व्याकुल है। 'जीवन-धन! इस जले जगत को

वृन्दावन बन जाने दो' प्रिय के स्नेहालिंगन में ही कवि शीतलता का अनुभव करता है। 'वसुधा के अंचल पर यह क्या कन कन-सा गया बिखर ?' इस गीत के साथ कवि का हृदय उमड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। कमल पर के जल-बिन्दुओं के समान यह मानव-जीवन अत्यन्त चंचल है। इसमें दुःख-सुख का चक्र चलता ही रहता है। लालसा-निराशामय होने पर भी यह कितना निखर रहा है। कमल पर अलग-अलग पड़ी हुई दो बूँदें अगर संयोगवश मिल जाती हैं तो अनूठे सौन्दर्य का सृजन होता है, वैसे ही दो प्रेमियों का मिलन भी सौन्दर्य-सृष्टि में सहायता ही पहुँचाता है। प्रेममय मिलन को देखकर संसार रुष्ट क्यों होता है ? निष्ठुर जगत् को यह स्वाभाविक प्रणय-व्यापार क्यों अखरता है ? 'गिरने दे नयनों से उज्ज्वल—आँसू के कन मनहर। वसुधा के अंचल पर।' 'अपलक जगती हो एक रात' अभिव्यंजना के वैचित्र्य की दृष्टि से यह गीति भी महत्त्वपूर्ण है। कवि रात्रि को दुःख हरण करने वाली शक्ति के रूप में देखता है। माता की गोद में जैसे बच्चा निश्चिन्त होकर सो जाता है, उसी तरह रात्रि देवी के क्रोड़ में सब को विश्राममिले। समस्त भूतल सो जाय—निर्निमेष जगती रहे केवल एक रात। दिन भर विपत्ति झेलकर जो रात को सो रहे हैं, उनको फिर विपत्ति के दिन न देखने पड़ें।

'जगती की मंगलमयी उषा बन करुणा उस दिन आई थी।' यह गीत मूलगन्ध कुटी बिहार के उद्घाटन समारोहोत्सव में मंगलाचरण के रूप में गाया गया था। बुद्ध क्या आये थे, स्वयं करुणा ही आई थी। प्राची की लालिमा के समान उनका लाल-लाल गेरुआ वस्त्र था। अज्ञानान्धकार के समूह को नष्ट करने के लिए वे आये थे।

'पागल रे ! वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।' यही प्रेम का रहस्य है। प्रेम आदान नहीं चाहता, प्रदान ही करता है। जो मनुष्य यह समझता है कि प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर जीवन में घोर निराशा छा जाती है, वह भ्रान्ति में है। मिलाइये—

हा स्वामी ! कहना था क्या क्या, कह न सकी कर्मों का दोष।
पर जिससे सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष॥

(साकेत)

"आमि निज सुख दुःख किछु न जानि ।
तोमार कुशले कुशल मानि ।।
(चंडीदास)

इस गीत के आगे के (१) 'काली आँखों का अन्धकार' (२) अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को ? (३) शशि-सी वह सुन्दर रूप-विभा । (४) अरे आगई है भूली-सी यह मधुऋतु दो दिन को—इन चार गीतों में अन्त के गीत में एक सुन्दर भावना का चित्रण है—दो दिन को जीवन में यह सुख मिला है, इसकी अवरोधक किसी भी वस्तु को कवि सह्य नहीं समझता । कहता है—

'झाड़खण्ड के चिर पतझड़ में भागो सूखे तिनको !' सुख की घड़ियों में ही सौन्दर्य-सृष्टि हो सकती है—'इस एकान्त सृजन में कोई कुछ बाधा मत डालो ।'

'अन्तरिक्ष में अभी सो रही है' इस गीत में दिखलाया गया है कि रात्रि को जब सारा संसार विश्राम करता है तो भिखारी टूटा प्याला लेकर माँगता हुआ रास्ते से निकल जाता है । उस भिखारी के आने की खबर सुखी संसार को कभी होती ही नहीं—संसार कितना आत्म-विभोर रहता है । तारे, पक्षी सभी निद्रामग्न हैं । कुछ भिखारी वस्तुतः ऐसे भी होते हैं जो प्रभात में थोड़ी देर के लिए भिक्षाटन करते हैं, फिर अदृश्य हो जाते हैं । आशा-निराशा के झकोरे में प्रेम का भिखारी झूलता रहता है । सुख-दुःख के डग वह भरता रहता है । अपनी दर्द भरी पुकार सुनाकर भिखारी तो चला जाता है । सोने वालों को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं—मानव की स्वार्थपरायणता और उसकी सुख-निद्रा पर यह व्यंग्य-सा लगता है ।

अन्तिम तीन कविताएँ मुक्त छन्द में लिखी गई हैं । प्रसाद ने मुक्त छन्द को केवल एक प्रयोग के रूप में अपनाया है ।

'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' इस कविता में सिक्खों की वीरता तथा प्रवंचना दोनों का ही वर्णन है । वीरता तथा ग्लानि और घृणा दोनों ही भाव यहाँ व्यक्त हुए हैं । करुण रस से मिश्रित यह वीर रस की कविता है । आपस की फूट से उद्भूत विशृंखलता के परिणाम-स्वरूप ही उनको हारना पड़ा ।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' प्रतीकात्मक कविता है। पेशोला या पीछोला उदयपुर की सुप्रसिद्ध झील का नाम है। झील के सामने खड़ा होकर कवि सन्ध्या का वर्णन करता है। सारे देश पर सन्ध्या का अंन्धकार छाया हुआ है। मेवाड़ के वीरों के सन्देश को सजग होकर ग्रहण कर सकने वाला कोई दिखाई नहीं पड़ता। देश की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध का यह प्रतीकात्मक वर्णन है। निर्धूम अरुण करुण बिम्ब, भस्म रहित ज्वलन पिण्ड आदि सूर्य के लिए प्रयुक्त हैं। वह भी निरवलम्ब होकर अब सो गया। राष्ट्रीय विकास का सूर्य अब अस्तप्राय है। वीरों की इस विरासत को कौन सम्हालेगा, इसका कोई उत्तर प्रतिध्वनि के रूप में नहीं मिल रहा है। मेवाड़ यहाँ सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करता है, पेशोला की लहरें समस्त देश की आकांक्षाओं की प्रतिनिधि हैं।

'प्रलय की छाया' में कमलावती का आख्यान है। कमलावती गुजरात की सुन्दर स्त्रियों में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। पद्मिनी भी इसकी समकालीन थी। कमलावती सौन्दर्य से अलाउद्दीन को वश में करना चाहती थी। अलाउद्दीन के हृदय पर शासन करने का दम्भ लेकर वह दिल्ली गई थी। रूप का गर्व अन्त में उसका मिट जाता है और पद्मिनी वाला मार्ग उसे भी अपनाना पड़ता है। रूप के भरोसे बड़ा काम कर सकने की आशा सदा निष्फल हुआ करती है। कमलावती की वासना का क्रमिक विकास यहाँ चित्रित किया गया है। यह सामान्य घर में पैदा हुई थी पर सौन्दर्य के कारण गुर्जराधिपति से उसका विवाह हुआ था। मानिक नामक दास गुर्जरेश कर्णदेव से यह सन्देश लाया था कि तुम पद्मिनी के मार्ग का अनुसरण करो। इस समय कमलावती अलाउद्दीन के यहाँ बन्दिनी थी। गुलाम खानदान का एक व्यक्ति काफ़ूर अलाउद्दीन का वध कर डालता है। बाद में मानिक खुसरू का नाम धारण कर स्वयं राजा बनता है और कमलावती के वध की आज्ञा देता है क्योंकि उसने पति की आज्ञा का उल्लंघन किया है। कमलावती ने पहले ही मानिक को बचाया था, नहीं तो अलाउद्दीन द्वारा उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा मिली थी। इसका अब कमलावती को पश्चात्ताप होता है। विलास और उसके परिणाम का अच्छा चित्रण इस कविता में हुआ है।

अन्तक शरभ के
काले काले पंख ढकते हैं अन्ध तम से
पुण्यज्योति हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कलिमा की धारा-सी
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में।

सौन्दर्य और रूप की व्यर्थता दिखलाई है जिस पर अन्त में 'प्रलय की छाया' पड़ी है। इसी से शीर्षक की सार्थकता है।

'लहर' प्रसादजी की स्फुट कविताओं का सुन्दर संग्रह है। इसमें कवि की प्रौढ़ शैली के दर्शन होते हैं।

: २० :

'अनंत के पथ पर'

(विहंगम दृष्टि)

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
जिसके आगे राह नहीं।" (प्रसाद)

"रहस्यवादी कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अन्दर आने वाली रचनाएँ पहुँचे हुए संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई चलती हैं।"

जीवन और मरण एक पहेली है और यह संसार एक रहस्यमयी शक्ति का बाह्यरूप है। इस गोरख-धन्धे को वही सुलझा सकता है जो अनेक दिव्यानुभूतियों के क्रमिक विकास द्वारा आत्म-दर्शन की उच्च-श्रेणी तक पहुँच गया हो किन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ वर्णन करने की वस्तुएँ नहीं हैं, वे तो हमारे अंतश्चक्षुओं से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?' आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष तो इस जीवन के रहस्य को समझ जाता है, किन्तु दूसरों को वह समझावे कैसे जब कि यह समझने की वस्तु ही नहीं; और अगर यह शब्दों द्वारा समझा जा सके तो फिर रहस्यवाद ही कैसा ? सच्चा रहस्यवादी होना वास्तव में एक कठिन साधना है। "जब मनुष्य अलौकिक शक्ति द्वारा अपनी आत्मा तथा संसार और इन सबके मूल कारण स्वरूप परमात्मा के सम्बन्ध में कुछ अनुभव प्राप्त करता है, तभी वह रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रवेश करता है। उसकी दृष्टि

आत्मा की दृष्टि होती है। वह सबमें एक प्रकार की आध्यात्मिकता देखने लगता है। रहस्यवाद का मूल स्रोत वर्तमान अनुभव की अपूर्णता को पूर्ण करने की इच्छा में है।" आजकल के रहस्यवादी कवि रामकुमार वर्मा के शब्दों में "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य-शक्ति का अनन्त तेज दिखलाई पड़ता है और आत्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाती है। एक भावना, एक वासना, हृदय में प्रमुखता प्राप्त कर लेती है और वह भावना जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है।" अथवा जैसे Spurgeon ने बतलाया है, रहस्यवाद तो वास्तव में एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है।

श्री हरिकृष्णजी 'प्रेमी' का 'अनन्त के पथ पर' भी इसी प्रकार की रहस्य-भावना से समन्वित एक सुन्दर काव्य है। अज्ञात के रहस्य की जिज्ञासा से ही, जो रहस्यवाद की मुख्य विशेषता है, इस काव्य का प्रारम्भ होता है। आत्मा को नीरव नभ से न जाने किसका निमन्त्रण मिलता है। (मिलाइये—"न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन"—पंत), कोई अज्ञात रवि उसके हृदय-कमल को विकसित कर रहा है, पर जीवन के उस रवि का कुछ पता नहीं मिल पाता। इस अगम गगन का जाने क्या रहस्य है ? दिन भर किस नभ में रात बिताता है, इसका उसे पता नहीं। किन्तु उसे ऐसा लगता है कि उसकी आँखों का तारा चराचर से न्यारा है। वह अपने प्रियतम की याद में आँसू बहाती है, कानों में उसे अलि-गुंजन सा अस्पष्ट गान सुनाई पड़ता है, वह परिचित-सा है किन्तु उसका कुछ अर्थ समझ में नहीं आता। वह उस अलख-पथ का पता लगाने के लिए आतुर हो रही है जो उसे जग की इन भूलभूलैयों से मुक्ति दिला सके। संध्या के समय विहग-दल नीड़ों की ओर उड़ते हुए कलरव करते हैं। किन्तु वह सूनी आँख इसी मिलन-महोत्सव को देख रही है। वह अमरता के महासागर की एक बिछुड़ी हुई बूँद है और उस महासागर का रहस्य समझने के लिए वह अत्यन्त विकल हो रही है। उसके

हृदय में यह भावना जाग्रत होती है कि जब मेरा प्रियतम क्षितिज के उस पार निवास करता है तो मैं क्षितिज के घेरे को तोड़कर क्यों न उससे जा मिलूँ ? इस जग के पार क्षितिज से मेरा प्रियतम मुझे पुकार रहा है। 'सांध्यगीत' में ऐसी ही रहस्य-भावना से प्रेरित होकर श्री महादेवी वर्मा ने लिखा है—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है !
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?"

क्षितिज के उस पार प्रियतम का स्वर्ग महल है जहाँ पर ये ससीम प्राण असीम बन कर मुसकाते हैं और जहाँ अपना अस्तित्व गँवा कर अमर-पद प्राप्त करते हैं। पन्तजी ने भी इसी से मिलता-जुलता विचार प्रकट किया है—

"मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।"

जिस छवि के दर्शन मात्र से मति का मल धुल जाता है, चिर-जाग्रति के जग में उस प्रियतम का निवास-स्थान है, किन्तु उस तक पहुँचने के लिए इस विस्तृत भव-सागर को पार करना आवश्यक है। तारे अपलक जिसकी छवि का पान करते हैं, उसी ओर हृदय बहने लगा है। जो उसके तट तक पहुँच गया, वह लौट कर नहीं आया; किससे पूछा जाय, उसने किस पथ पर चल कर प्रियतम को पाया ? "The bourne from which no traveller returns." जग का यह निकुंज अब उसे फूटी आँख भी नहीं सुहाता। कुछ दूर मधुर-मधुर वंशी की दिव्य तान सुनाई पड़ती है जिसे सुन कर प्राणों में उमंग की यमुना लहरा रही है। जो इस दिव्य संगीत को सुन लेता है, उसको जगत् अच्छा नहीं लगता; इस जगत् से नाता तोड़ कर वह 'उस पार' के जगत् का पथ ग्रहण करता है। इस दिव्य संगीत की एक तान से हृदय दीवाना हो जाता है और वह उसी की लय में लय हो जाना चाहता है। उसी तान में तन्मय होकर आत्मा, ममता, माया, तृष्णा के दृढ़ बन्धन तोड़ कर इस अनन्त के पथ की पथिक बन जाती है। उसके हृदय में रह-रह कर 'बीती कथा' याद आती है,

जब वह प्रेम की प्याली पान कर दीवानी रहा करती थी, जब वह उसकी शीतल छाया में नित्य नर्तन किया करती थी, जिसका इन्द्रधनु मुसकान है, चंचल चपला जिसकी चितवन है, सागर की लहरें जिसके उर का लघु-लघु स्पंदन हैं, अम्बर जिसका उज्ज्वल आँगन है। रहस्यवाद की इस अवस्था में आत्मा ईश्वर की दिव्य विभूतियों को देख कर चकित हो जाती है और वह अनन्त शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होती है। श्री रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की तीन परिस्थितियों में से इसे पहली परिस्थिति माना है। इस अवस्था में साधक ईश्वर की अनुभूति अपने हृदय में पाने में असमर्थ रहता है। संसार से वैराग्य उत्पन्न होने की अवस्था को ईसाई रहस्यवादियों ने जाग्रति की अवस्था (Awakening of the soul) का नाम दिया है। आत्मा अपने प्रियतम के वियोग में इस जगत् के साथ अपने जी की संगति नहीं मिलाने पाती। इस जगत् की चाँदनी भी उसे तम की छाया के समान जान पड़ती है—

तम की छाया-सा दिखता
मुझको सारा उजियारा,
मानो मैं खो बैठी हूँ
अपनी आँखों का तारा।

हृदय में कुछ दुखता-सा है, वह हृदय थामकर रह जाती है। तब भीतर से कोई कहता है—'निराश होने की आवश्यकता नहीं, यह प्रियतम की थाती है।' अब मृदुल इशारा पाकर आशा का दीप जल उठता है, आत्मा अपनी कुटी को छोड़ निकल पड़ती है। सरिता उसे अपनी कहानी सुनाती है। वह कल-कल नाद करती हुई निरन्तर बह रही है किन्तु फिर भी उसकी रागिनी पूर्ण नहीं होने पाती। आत्मा भी अपूर्णता से मन ही मन अकुलाती है और सरिता की भाँति अनजान दिशा को बहती जा रही है। कुमुदिनी का दीवाना भी उसे मादक गीत सुना रहा है—'कुछ सरल नहीं है बौरी, प्रियतम के घर तक जाना।' पतंग उसे कहता जान पड़ता है—

"प्रियतम के चरणों पर ही
अपना सर्वस्व चढ़ाना

जीवन दे देना ही तो
कहलाता जीवन पाना ।"

ज्वाला को गले लगाना ही प्रणय की परम विभूति है । 'जीने का सार यही है—प्रियतम पर प्राण चढ़ाना ।' दीपक कहता है—"मैं हँस-हँस कर अपने प्राणों की ज्वाला सहता रहता हूँ। अपने ही मन से मैं अपनी प्रेम-कहानी कहता हूँ ।" ऐसी ज्वाला सहने वाले विरले ही होते हैं । अविराम विरह में जलना ही तो वास्तव में जीवन कहलाता है । जलकर जो पल-भर में बुझ जाता है, वह तो स्नेहहीन है । कमल अपनी अलग ही कहानी कह रहा है—"यदि चुपचाप प्राणों की पीड़ा छिपा सकते हो तो प्रियतम के दर्शन पाना दुर्लभ नहीं है । यदि शशिकिरणें ही सारे जगत् के लिए हितकारी होतीं तो तरुण-अरुण की किरणें मुझे इतनी क्यों प्यारी लगती ?" उपवन की सूनी क्यारी भी कहती जान पड़ती है, 'यदि पतझड़ आकर उपवन की थाली को खाली न कर जाता तो मेरी डाली मधुपों से कोई मान न पाती ।'

जिसकी डोरी रवि-शशि-तारों को स्थिर रखती है, जिसके बल ये अधर सधे हैं, वह शक्ति कोरी कल्पना नही हो सकती । किन्तु प्रश्न यह है कि आनन्दमय प्रभु ने इस दुःखमय संसार की सृष्टि क्यों की ? आत्मा सोचने लगती है 'यदि समस्त विश्व की पीड़ा मैं अपने उर में भर पाती तो नभ के उस पार हृदय की झंकार पहुँचाती जिससे करुणेश्वर की करुण पलकें खुल जातीं और वह वहाँ भी दो-चार करुणा की बूँदें बरसा जाता ।' किन्तु अन्त में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि दुःख तो वास्तव में विभु का वरदान है । यदि जग की फुलवारी में हमेशा वसंत रहता, तो यह सुख-वैभव संसार को भारी हो जाता; यदि मृत्यु न होती तो यह जीवन रौरव नरक बन जाता ।

"यदि प्रेम-कुंज में होते
काँटे न विरह-बाधा के
आनन्द न पाता कोई
अपने-प्रिय-जन को पा के ।"

यदि चढ़े हुए फूलों को नित्य राह पर न फेंका जाय तो चरणोंपर नित्य नई अंजलि कौन चढ़ावे ? दुःख रहस्यवादियों की प्यारी भावना है । सूफी

रहस्यवादियों ने तो प्रेम की पीर और उसकी मिठास को बहुत अधिक गौरव दिया है। आजकल के रहस्यवादी कवि रवीन्द्र भी दुःख के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

"Our greatest hope is in this, that suffering is there. It is the language of imperfection. This suffering has driven man with his prayer to knock at the gate of the infinite in him." परमात्मा ने जग की आँखों से जो अपना रूप छिपा रखा है, यह उस करुणेश की करुणा ही समझिए—

"उस सूने वन में किसने
करुणा का दीप जलाया ?
किसने जग की आँखों से
है अपना रूप छिपाया ?"

आत्मा परमात्मा से नियुक्त होकर उसे खोजने निकल पड़ती है। यदि संसार में दुःख न होता तो इस सारी खोज का अन्त हो जाता। दुःख, व्यथा तथा वेदनाओं की ज्वाला में जल-जल कर यह जीवन कंचन-सा पावन बनता है। इसीलिए पीड़ा आत्मा को प्रियतम-सी प्यारी लगने लगती है—

'उस महासिन्धु में जब तक
यह जीवन नहीं मिलेगा
तब तक अभिलाषाओं की
ज्वाला में हृदय जलेगा।'

किन्तु आत्मा ज्यों-ज्यों निकट पहुँचने का प्रयत्न करती है, उतनी ही सीमा बढ़ती जाती है ; इस भूल-भुलैया में ही मति भ्रम के चक्कर खा रही है। आत्मा ने 'अनन्त के पथ पर' अब अपनी नौका छोड़ दी है और दिनकर से होड़ा-होड़ी हो रही है।

इस समुद्र में न जाने कितने तूफान हैं किन्तु हृदय में जो प्यास जग उठी है, वह क्या रोके रुक सकती है ? चातक की तृष्णा क्या जग के झरने से बुझ सकती है ? कितनी ही नौकाएँ डूब गयी हैं किन्तु जग-कूल नहीं दिखलाई पड़ता। सूर्य कहता है—पगली ! इसका भी किनारा है ? जिसके

वियोग में मेरे प्राणों में ज्वाला जल रही है, इसका पथ पाने वाला क्या संसार में कोई पैदा हुआ है ?

'है वही मुक्त कर सकता
जिसने जग-जाल बिछाया
यह वही मिटा सकता है
जिसने यह खेल रचाया।'

इस सम्बन्ध में श्रुति भी यही कह रही है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैवात्मा विवृण्वते नूनं स्वाम्।' गोस्वामी तुलसीदास भी इसी में स्वर मिला रहे हैं—"सो जानत जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहिं-तुम्हहिं होइ जाई।" किन्तु उसके दर्शन के लिए लोचन पाना कठिन साधना है ?

यदि यह पथ अनन्त है, इसका कही कूल-किनारा है ही नहीं, तो सूर्य भी समस्त आशा छोड़कर अपने रथ को क्यों नहीं रोक देता ? 'यह रहस्य का पर्दा' इतना कौतूहल क्यों उत्पन्न करता है ?

आत्मा इस आशा में नाव बढ़ाए जा रही है कि एक दिवस तो उस दिव्य ज्योति की उज्ज्वल किरणें चमकेंगी। उसे कितनी ही व्यथाएँ क्यों न सहनी पड़ें, वह 'उफ' तक न करेगी; उसकी एक मात्र इच्छा यही है कि दुर्दिन की आँधी में उसका स्मृति-दीपक न बुझ पावे। श्रीमती वर्मा भी इसी सुधि-सम्बल की भिक्षा माँग रही है—

'एक सुधि-सम्बल तुम्हीं से
प्राण मेरा माँग लाया,
तोल करती रात जिसका
मोल करता प्रात आया;
दे बहा इसको न करुणा
की कहीं बरसात देखो'

वह भी यह चाहती है कि उसका स्मृति-दीपक प्रियतम का पथ आलोकित करता रहे—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।'

यदि सुख-दुःख के झोंकों में हृदय उसको न भूल जाय तो क्या वह अपना अदृश्य कर बढ़ाकर आत्मा को न अपना लेगा और जब माया का अन्धकार आँखों से हट जायगा तब उसके स्वर्ण-महल का द्वार क्या दृष्टिगोचर न होगा ?

'मैं एक बूँद हूँ जिसकी
क्या उसमें नहीं मिलूँगी ?'

जगती उसके शत-शत पथ बतलाती है, अबोध मति उन पर चलकर भ्रम के तम में खो जाती है। वह क्या है, संसार को इसका पता नहीं। वह भिक्षुक का वेष बनाकर भीख माँगने आता है किन्तु संसार उसे गालियों की भेंट देकर घर से भगा देता है; वह कोढ़ी का वेष बनाकर आता है पर जगत् दम्भ के कारण उस ओर आँख भी नहीं करता—मिलाइए।

"बार-बार तू आया, पर मैं पहचान न पाया"

—गुप्तजी

"जब खोजता तुझे था मैं कुंज और बन में ·"

—त्रिपाठीजी

द्वैत भाव आत्मा को पीड़ा पहुँचा रहा है, 'तू मैं' की दीवारें तोड़ने की इच्छा होती है। George Herbert भी यही कहते हैं—

O, be mine still, still make thine
Or rather make no thine or mine.

अब जप-तप सब भ्रम का अभिनय जान पड़ता है। अपनी आँखों का तारा किन आँखों से देखने को मिले ?

यह एक बूँद जब अपना अस्तित्व मिटा डालेगी,
तब महासिन्धु में मिलकर लहरों में लहरावेगी।

अब आत्मा अपनी समस्त अभिलाषाएँ उस प्रीतम को अर्पित कर देती है। लेखक ने इस आत्म-समर्पण की भावना को बहुत अधिक महत्त्व दिया

है । उसने निराश क्षणों में किसी शक्ति के चरणों में अपने आपको समर्पित कर दिया है और इस आत्म-समर्पण से उसे बल प्राप्त हुआ है । किसी अदृश्य की याद में लेखक रात भर अश्रु बहाता रहा है । गीता में श्रीकृष्ण ने भी 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' द्वारा इसी आत्म-समर्पण की भावना पर जोर दिया था ।

जब आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि परमात्मा मुझ में विश्राम कर रहा है तो उसमें एक प्रकार के गौरव की सृष्टि हो जाती है । उस समय आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है तो परमात्मा आत्मा में प्रकट होकर घोषित करने लगता है—"मुझ को कहाँ ढूँढै बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।"

अब आत्मा की नौका रुक जाती है, नेत्रों में जल-प्लावन-सा आ जाता है, हृदय के नेत्र खुल जाते हैं । उस प्रियतम ने अब रूप दिखा दिया, यहीं सारा अन्तर दूर हो गया । युग-यग से जिस तरणी में बैठकर आत्मा प्रियतम को खोजने निकली थी, उसी में उसकी मुसकाती प्रिय मधुर मूर्ति मिल गई—

**"अपना ही पथ तो मुझ को बन गया अनन्त अगम था ।
मैं समझ नहीं पाई थी, मुझमें मेरा प्रियतम था ।"**

'अनन्त के पथ पर' एक सुन्दर रहस्यवादी काव्य है । कोरा दर्शन-शास्त्र रहस्यवाद का रूप धारण नहीं कर सकता । शुष्क वेदान्त के सिद्धान्त के आधार पर ही कुछ पंक्तियों को पद्य-बद्ध कर देना रहस्यवाद नहीं है । "वेदान्तियों का शुष्क अद्वैतवाद जब हृदय-क्षेत्र में पहुँचकर भावनाओं के अनुकूल हो जाता है, तभी रहस्यवाद की सृष्टि होती है ।" कबीर में, जो रहस्यवादियों का अग्रणी समझा जाता है, एक प्रकार की आध्यात्मिक तल्लीनता के दर्शन होते हैं जिसके कारण उसकी वाणी में जोश है जो हमारे हृदय पर भी प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता । इससे सिद्ध है कि चाहे जो रहस्यवादी कवि नहीं बन सकता । रहस्यवाद तो एक प्रकार की अवस्था-विशेष है, एक विशेष प्रकार का वातावरण है । उसी अवस्था-विशेष, उसी वातावरण के भीतर कवि ने जो कुछ लिख दिया, वह बड़े ही ऊँचे दर्जे की कविता हो जाती है । शुक्लजी

ने जिसे सच्ची रहस्यवादी भावना का नाम दिया है, वह 'अनन्त के पथ पर' में पाई जाती है। प्रेमीजी अपनी स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति द्वारा हृदय को स्पर्श करते हैं। रहस्यवादियों की तरह प्रेमीजी ने भी अपनी अनुभूति को रूपकों की भाषा में प्रकट किया है। रूपक की भाषा में रहस्यवादी ईश्वर को प्रियतम के रूप में और अपनी आत्मा को प्रेमिका के रूप में देखता है। कवि की भाषा सर्वत्र प्रसादगुण सम्पन्न है। जो रहस्यवादी रचनाओं में अस्पष्टता और दुरूहता देखा करते हैं, उनको इस रचना में यह दोष कहीं भी दिखलाई न पड़ेगा। रूपकमयी भाषा का सर्वत्र प्रयोग है किन्तु कितना सरल, सुबोध और मधुर !

रहस्यवादी रचनाओं की आलोचना करते समय श्रीमती महादेवी वर्मा की इस उक्ति का सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि 'रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं। काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं; उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो अपने स्पर्श मात्र से सोना कर दे।' हम केवल यह कहना चाहेंगे कि रहस्यवाद को काव्य का विषय बनाकर उसमें सफलता प्राप्त करना टेढ़ी खीर है, किन्तु कहना न होगा कि प्रेमीजी को इसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है और इसका प्रधान कारण है उनकी रचना में तन्मयता और अनुभूति की प्रधानता, और सच पूछा जाय तो अनुभूति ही कविता का प्रकृत क्षेत्र है। 'अनन्त के पथ पर' एक साथ ही काव्य और रहस्यवाद दोनों है।

: २१ :

कबीर की साखियों का सम्पादन

सन् १६२८ में बाबू श्यामसुन्दरदासजी के सम्पादकत्व में 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन हुआ था। "इस संस्करण में जो पाठ प्रामाणिक माना गया है उसमें भी अनेक भूलें हैं। हस्तलिखित प्रतियों में एक लकीर में सभी शब्द मिलाकर लिख दिए जाते हैं। एक शब्द दूसरे शब्द से अलग नहीं रहता। अतः पंक्ति को पढ़ने में दृष्टि का अभ्यास होना चाहिए जिससे शब्दों का अलग-अलग क्रम स्पष्ट पढ़ा जा सके। हस्तलिखित प्रति को छपाते समय सम्पादक को संदर्भ और अर्थ समझकर शब्दों का स्पष्ट रूप लिखना चाहिए। कबीर-ग्रन्थावली में अनेक स्थलों पर शब्दों को अलग-अलग लिखने में भूल हो गई है। कही एक शब्द दूसरे से जोड़ दिया गया है, कही किसी शब्द को तोड़कर आगे और पीछे के शब्दों में मिला दिया गया है जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया है।" कबीर-ग्रन्थावली का 'साखी' शीर्षक अंश अनेक विश्वविद्यालयों की एम० ए० हिन्दी परीक्षा के लिए पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारित है। इस अंश में से मैं कुछ साखियाँ नीचे दे रहा हूँ जिनसे डॉ० रामकुमार वर्मा के उक्त उद्धरण की सत्यता प्रमाणित हो सकेगी—

जैसे माया मन रमै, यूँ जे राम रमाइ।
(तौ) तारा-मंडल छाड़ि करि,
जहाँ के सो तहाँ जाइ॥

—पृ० ६, साखी २४

इस दोहे के उत्तरार्द्ध का अर्थ है—"तो वह तारामण्डल को भेदकर वहाँ चला जाता है, जहाँ केशव (रहते) हैं।" 'केसो' अलग-अलग न छापना चाहिए था।

सब रंग तंतर बाबतन, विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ।।

—पृ० ६, साखी २०

अर्थात् शरीर की सब रगें ताँतें हैं, शरीर रबाब है, विरह उस रबाब को नित्य बजाता है। उसको और कोई नहीं सुन सकता, या तो स्वामी सुनता है या चित्त। ''रबाब' सारंगी की तरह का एक प्रकार का बाजा होता है जिसमें बजाने के लिए तार लगे रहते हैं। उदाहरणार्थ—

अरे बजावत कौन ढिग हित रबाब के तार ।
जुरो जात है आइकै बिरहिन को दरबार ।।

—रसनिधि

साखी के प्रथम चरण का शुद्ध पाठ है 'सब रग तांत रबाब तन'' (हिन्दी शब्द-सागर, पृ० २,६००)।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाउँ ।
मो देख्याँ जलहरि जले, सन्तौ कहाँ बुझाउँ ।।

अर्थात् विरह की जलाई हुई मैं जल रही हूँ, जलती हुई सरोवर में जाती हूँ पर मुझे देखकर सरोवर भी जलने लगता है। हे सन्तो ! इस आग को कहाँ बुझाऊँ ? 'जलहरि' का अर्थ जलाशय है जो 'जल' और' हरि' दोनों को एकत्र पढ़ने से निष्पन्न होता है।

रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ।।

—पृ० ११, साखी ४४

अर्थात् रात्रि में बिछोहिया दूर है। विरहिणी को शंख का ध्वनित होना अच्छा नही लगता क्योंकि अभी प्रिय से साक्षात्कार नहीं हुआ है। इसलिए वह कहती है कि हे शंख ! ठहर, रो मत। सूर्य के उदय होने पर तू मन्दिर-मन्दिर में पुकार उठेगा अर्थात् ज्ञान का प्रभात होने पर, प्रिय का सान्निध्य मिलने पर, शंख चाहे खूब दहाड़े, तब वह वियोगिनी को अच्छा ही लगेगा।

ऊपर की साखी का जो अर्थ मैंने किया है, यदि वही ठीक है तो संषम एक पद की भाँति न छपकर संष म—इस तरह अलग-अलग छपना चाहिए था। 'म' यहाँ निषेधार्थक 'मा' का लघुरूप जान पड़ता है। निषेधार्थक 'म' का प्रयोग कविराजा सूर्यमल्ल की निम्नलिखित पंक्ति में देखिए—

'काली अच्छर छक म कर, सूनो धव अपणाय।'

अर्थात् हे बावली अप्सरा! सूने पति को इस तरह अपनाकर घमण्ड मत कर।

संकल ही तै सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूँ छूटैं बापुड़े, बाँधे सिरजनहार॥

—पृ० ३४, साखी २५

अर्थात् इस संसार में माया जंजीर (संकल सांकल शृंखला) से भी सबल है; जिनको विधाता ने इस जंजीर से बाँध दिया, वे बेचारे कैसे छूटें? 'सब' और 'लहै' इस प्रकार अलग-अलग कर देने से कोई अर्थ नहीं बैठता, 'सबल है' इस प्रकार छपना चाहिए था।

पर नारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की षांनि।
षूंणै बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि॥

—पृ० ३९, साखी ६

अर्थात् पर-नारी से प्रेम करना ऐसा है जैसा लहसुन का खाना। चाहे कोने में बैठकर खाओ पर वह सभा में प्रकट हो ही जाता है (दुर्गन्ध के कारण वह छिपा नहीं रहता)। यहाँ 'बैसि रषाइये' की जगह बैसिर (बैठ कर) षाइये (खाना चाहिए या खाओ)—इस प्रकार छपना चाहिए था।

एक कनक अरु कामिनी, विष फल की एउ पाइ।
देखें ही थें विष चढ़ै, खाये सूँ मर जाइ॥

—पृ० ४०, साखी ११

इस साखी के दूसरे चरण का शुद्ध पाठ है "विष फल कियें उपाइ" अर्थात् विष फल पैदा किये हैं। शेष अर्थ स्पष्ट है। 'उपाइ' 'पैदा' के अर्थ में प्रयुक्त है।

जप तप दीसें थोथरा, तीरथ व्रत बेसास ।
सूवें सें बल सेविया, यौं जग चल्या निरास ।।

—पृ० ४४, साखी ८

इस साखी के तीसरे चरण में 'सेंबल' एक शब्द के रूप में छपना चाहिए था । 'सेंबल' सेमल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ ।
सिर ऊपरि आरास है, तऊ न दूजा होइ ।।

—पृ० ४८, साखी ४

इस साखी के तीसरे चरण में 'आरा सहै' इस तरह पाठ मान लेने पर ठीक अर्थ बैठ जाता है ।

भृगनृक थै हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि ।
चरन कवंल की मौज में, रहिस्यूँ अंति रु आदि ।।

—पृ० ५४, साखी ६

अर्थात् सत्गुरु की कृपा से स्वर्ग और नरक दोनों से दूर रहा । मैं आदि से अन्त तक भगवान् के चरण-कमलों के अन्दर आनन्द में रहूँगा । भृग—स्वर्ग । नृक—नरक । थैं—से । जिस तरह यह दोहा छपा है, उससे आशय तुरन्त स्पष्ट नही होता ।

ग्रिही तौ च्यंता घणीं, बैरागी तो भीष ।
दुहु कात्याँ बिचि जीव है, दो हनैं सतौ सीष ।।

—पृ० ५७, साखी ५

अर्थात् गृहस्थ को घनी चिन्ता है और बैरागी को भीख का कष्ट है । दोनों कतरनी के बीच में जीव है । हे सन्तो ! उचित शिक्षा दो ना । 'दो' और 'हनैं' अलग-अलग छपने से अर्थ का स्पष्टीकरण आसानी से नहीं होता ।

कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरैं जागि ।
बस्तन बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि ।।

—पृ० ५७, साखी १०

अर्थात् चेतनता के साथ पहरे पर जगकर जो सावधान रहता है, उसकी

कोई वस्तु बर्तनों में से नहीं जाती, कोई चोर नहीं लग सकता। 'बस्त' और 'न' को अलग-अलग मानकर ही यह अर्थ किया गया है।

मांनि महातम प्रेम रस, गरवा तण गुण नेह ।
ए सबहीं अह लागया, जबहि कह्या कुछ देह ।।

—पृ० ५६, साखी १४

अर्थात् मान, माहात्म्य, प्रेम का रस, गौरव-गुण और स्नेह व्यर्थ हो गए जब यह कहा कि हमें कुछ दो । 'अहला' शब्द का अर्थ होता है 'व्यर्थ, यों ही'। 'अहला गया' इस तरह पढ़ने पर ही इस साखी का अर्थ समझ में आता है।

जिसहि न कोई तिसहि तूं जिस तूं तिस सब कोइ ।
दरिगह तेरी साइयां, नांम हरू मन होइ ।।

—पृ० ६१, साखी ३

अर्थात् जिसके कोई नहीं उसके तू है, जिसके तू है, उसके सब कोई है। हे मालिक ! तेरी दरगाह में नाम हराम नहीं होता । चौथे चरण का पाठ होना चाहिए था "नाम हरूम न होइ" अन्यथा अर्थ नहीं खुलता।

कबीर हीराबण जिया, मंहगे मोल अपार ।
हाड़ गला माटी गली, सिर साटें व्यौहार ।।

—पृ० ७०, साखी २८

अर्थात् कबीर कहते हैं कि अपार मँहगे मूल्य से हीरे का व्यापार किया। उसको पाने के प्रयत्न में हाड़ गल गये, मांस गल गया, सिर के बदले सिर देकर यह व्यापार किया। 'वणजिया' एक शब्द होना चाहिए था।

सती जलन कूं नीकली, चित धरि एकबमेख ।
तन मन सौंप्या पीव कूं, तब अंतरि रही न रेख ।।

—पृ० ७१, साखी ३७

अर्थात् चित्त में विवेक धारण करके सती जलने के लिए निकली । उसने अपना तन-मन प्रिय को सौंप दिया तो रेखा जितना भी अन्तर न रहा। 'एक' और 'बमेख' अलग-अलग छपना चाहिए था। बमेख=विवेक।

आजक कालिहक निस हमें, मारगि माल्हंतां ।
काल सिचांणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यंतां ।।

—पृ० ७२, साखी २

अर्थात् आज या कल या रात में या मार्ग चलते समय काल रूपी बाज मनुष्य रूपी चिड़ियों पर अचिन्त्य रूप से झपटेगा। पहले चरण में 'निसह में' (अर्थात् रात्रि में) पाठ मानकर अर्थ किया गया है। राजस्थानी में 'हमैं' का अर्थ 'अब' होता है पर सम्भवत: यहाँ वह अर्थ अभीष्ट नहीं।

कबीर हरि सूँ हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बांध्या बार षटीक कै, तापसु किती एक आव ।।

—पृ० ७५, साखी २७

अर्थात् कबीर कहते हैं कि भगवान् से प्रीति करो, झूठी बातों में चित्त न लगाओ। जो पशु कसाई के दरवाजे बँधे हैं, उनकी आयु ही कितनी? यहाँ 'तापम' तपस्वी के अर्थ में प्रयुक्त कोई एक शब्द नही; 'ता' और 'पसु' अलग-अलग पढ़ने से ही अर्थ स्पष्ट होता है।

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह ।
नीर निवांणा ठाहरै, नांऊ छा परडांह ।।

—पृ० ८३, साखी ४

अर्थात् पहाड़ों की चोटियों पर हरिरस की वर्षा हुई। पानी नीचे स्थानों में ठहरता है, वह छप्परों अर्थात् ऊँचे स्थानों पर नही ठहरता। चौथे चरण का पाठ होना चाहिए 'नां ऊ छापरड़ांह'।

अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तू बड़ी न बेलि ।
जालण आंणी लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि ।।

—पृ० ८३, साखी १

पहली पंक्ति में दूसरे चरण का अर्थ यह नहीं है कि न तू बड़ी है न बेल। चारों चरणों का संगत अर्थ है—"अब तो ऐसी हो गई कि न तुमड़ी ही रही, न बेल ही। जलाने को लकड़ी लाये थे, वह अंकुरित हो उठी।" 'तूँबड़ी' एक शब्द के रूप में छपना चाहिए था।

विस्तार-भय से और उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं। नागरी प्रचारिणी जैसी साहित्यिक संस्था से जो पुस्तक प्रकाशित हो, वह सर्वथा प्रामाणिक रूप में निकले, इस तरह की इच्छा स्वाभाविक ही है। आशा है जब कभी सभा की ओर से 'कबीर-ग्रन्थावली' का नया संस्करण निकलेगा, उसमें इस प्रकार की सम्पादन और मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं रहने पायेंगी।

: २२ :

'ग़बन' की औत्सुक्य-योजना

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश सन् १८९१ में बाबू देवकी-नन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' द्वारा हुआ। इस प्रकार के तिलस्मी उपन्यासों से जनता का बहुत कुछ मनोरंजन हुआ, और सच तो यह है कि वहुत से पाठकों ने बाबू साहब के उपन्यासों का रसास्वदन करने के लिए ही हिन्दी पढ़ना सीखा। उस जमाने में इस तरह के उपन्यास लोकप्रिय भले ही रहे हों किन्तु आगे चलकर कलात्मक कृतियों में इनका स्थान सुरक्षित नहीं रह सका। सन् १९१० के आस-पास हिन्दी में सामाजिक उपन्यास लिखे जाने लगे किन्तु तत्कालीन जनता पर उनका कोई स्थायी प्रभाव नही पड़ा। सन् १९१६ हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी वर्ष धनपतराय नामक एक व्यक्ति ने 'प्रेमचन्द' नाम से हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था। उन्होंने 'सेवा सदन, (१९१८), 'प्रेमाश्रम' (१९२१), 'रंगभूमि' (१९२२) आदि अनेक स्वाभाविक और राजनैतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सामयिक उपन्यास लिखे। सन् १९३१ में 'ग़बन' के प्रकाशित होने तक वे 'उपन्यास-सम्राट्' की उपाधि से विभूषित हो चुके थे। प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासों में ग़बन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थों तक में ग़बन की गणना की गई है।

शीर्षक की सार्थकता—ग़बन का नामकरण एक विशेष घटना के आधार पर हुआ है। इसी ग़बन के कारण नायक तथा नायिका के जीवन में परि-वर्त्तन हुआ, इसीलिए उपन्यास का शीर्षक रमानाथ, जालपा या चन्द्रहार नहीं रखा गया। चन्द्रहार तो निमित्त मात्र था, रमानाथ के सम्पूर्ण जीवन पर ग़बन का व्यापक प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उपन्यास के पूर्वांश की सब घटनाएँ जा रही हैं ग़बन की ओर, तथा परवर्ती घटनाएँ निकली हैं ग़बन से। यद्यपि जालपा के यथासमय रुपया जमा करा देने के कारण रमा पर किसी

ग़बन का जुर्म नहीं लगाया गया तथापि उपन्यास के नायक रमा को यही भ्रान्त धारणा रही है कि ग़बन के कारण उस पर वारण्ट निकल चुका है। इस दृष्टि से विचार किये जाने पर शीर्षक की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

ग़बन का कथानक पूर्ण रूप से नाटकीय व्यंग्य का निदर्शन है। सारी कथा धोखे ही धोखे में चलती है। नाटकीय व्यंग्य का एक उदाहरण देखिये—

"रमा ने पूछा—क्या है, तुम चौंक क्यों पड़ीं ?

जालपा ने इधर-उधर प्रसन्न नेत्रों से ताककर कहा—कुछ नहीं, एक स्वप्न देख रही थी। तुम बैठे क्यों हो ? कितनी रात है अभी ?

रमा ने लेटते हुए कहा—सबेरा हो रहा है, क्या स्वप्न देखती थी ? जालपा—जैसे कोई चोर मेरे गहनों की सन्दूकची उठाए लिये जाता हो।"

यही क्यों, नाटकीय व्यंग्य के अनेक उदाहरण अनायास इस उपन्यास में मिल सकेंगे। पढ़ते-पढ़ते पाठक को लगता है कि रमा जालपा के सामने क्यों अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर देता ? किन्तु रमा की आत्म-प्रदर्शन तथा आत्म-गोपन की प्रवृत्ति के कारण परिस्थिति बिगड़ती ही चली गई। ग़बन वस्तुतः एक गलतफहमी की दुःखपूर्ण घटना है (A Tragedy of Misunderstanding)। रमा जालपा को नहीं समझने पाता, जालपा रमा को नहीं समझ पाती। समझती तब है जब दुर्घटना घटित हो जाती है।

ग़बन एक समस्यात्मक सामाजिक उपन्यास है। डाँवाँडोल आर्थिक स्थिति में भी पुरुष का स्त्रियों के शौक़ को पूरा करने का प्रयत्न, आभूषणों के लिए अत्यधिक कर्ज लेना, दो दिन की वाहवाही के लिए विवाह-शादियों में अन्धाधुन्ध खर्च करना, दहेज-प्रथा, लकीर के फकीर होने के कारण हिन्दू समाज की दयनीय अवस्था, पुरुषों की समाजभीरुता और स्त्रियों का शासन, विधवा स्त्री का हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा में सम्पत्ति पर कुछ भी अधिकार न रहना, रिश्वतखोरी, वृद्ध-विवाह की कुप्रथा आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है किन्तु उपन्यास की आधारभूत समस्या है आभूषण-प्रेम। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से समस्या का समाधान 'सेवासदन' की तरह इस उपन्यास में नहीं है, किन्तु लेखक की ओर से परोक्ष संकेत इतने स्पष्ट हैं कि उनके विषय में किसी को भी सन्देह नहीं रह जाता। इस प्रकार के

उपन्यासों से जो नेत्रोन्मीलन होता है, समाज-सुधार की जो प्रेरणा मिलती है, उसकी उपादेयता भी किसी प्रकार कम नहीं। हम उपन्यास के नायक पर क्रोध न कर समाज पर क्रोध करने लगते हैं।

ग़बन का कथानक सामान्य होते हुए भी मनोरंजक है किन्तु वस्तु विन्यास की त्रुटियों का भी इसमें अभाव नहीं है। उपन्यास में प्रमुख कथा के साथ-साथ उपकथा भी चल सकती है किन्तु उपकथा का मूल-कथा से सम्बद्ध होना नितान्त आवश्यक है। इस उपन्यास में रमा और जालपा की प्रमुख कथा के साथ-साथ वकील साहब और रतन की उपकथा भी चलती है। रमा और जालपा के, रतन के सम्पर्क में आने की इतनी ही सार्थकता है कि रतन के रुपयों की गड़बड़ी के कारण ही रमा ग़बन करने के लिए बाध्य होता है। सहेली के रूप में रतन का जालपा को ढाढ़स बँधाना, उसके प्रयत्नों में सहायता के लिए तत्परता दिखलाना आदि तो वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उचित कहे जा सकते हैं किन्तु वकील की मृत्यु, रतन के पश्चात्ताप तथा मणिभूषण की मक्कारी आदि के वर्णन में व्यर्थ के पृष्ठ रँगे गये हैं। उपन्यास के मुख्य कथा भाग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। मैं समझता हूँ, अपने पति की मृत्यु पर विधवा स्त्री के उत्तराधिकार के प्रश्न तथा वृद्ध-विवाह की समस्या को हिन्दू समाज के समक्ष उपस्थित करने के लोभ का प्रेमचन्दजी संवरण नहीं कर सके, सम्भवतः इसीलिए कथानक त्रुटिपूर्ण हो गया।

जोहरा के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न उठे बिना नही रह सकता। क्या वह उपन्यास का आवश्यक पात्र है? यह प्रेमचन्द के आदर्शवाद का निदर्शन ही माना जा सकता है। सम्भवतः प्रेमचन्द यह दिखलाना चाहते थे कि निकृष्ट समझी जाने वाली वेश्याओं में भी कभी-कभी सच्चे प्रेम और सहानुभूति के दर्शन हो सकते हैं किन्तु इस उपन्यास में जोहरा का जो अन्त दिखलाया गया है उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यासकार जोहरा को अपने उपन्यास के कलेवर में अच्छी तरह खपा नहीं सका, अन्त में उसका बलिदान दिखलाकर जैसे उससे किसी प्रकार पिण्ड छुड़ा लिया गया है। इस प्रसंग में 'चन्द्रगुप्त' की मालविका का स्मरण हो आता है। ग़बन का कथानक त्रुटिपूर्ण अवश्य है। इस उपन्यास का प्रारम्भिक

भाग (जहाँ तक गबन तक की घटना से सम्बद्ध है) सुसम्बद्ध और मनोरंजक है किन्तु आगे चलकर कहीं-कहीं ऐसा लगता है जैसे लेखक कथानक को जबरन घसीट रहा है। रचना-तन्त्र की दृष्टि से यह दोष ही कहलायेगा। हाँ, यह अवश्य है कि ग़बन का कथानक जटिल नहीं है।

जितना औत्सुक्य-वर्धन डिकन्स, टाल्स्टाय आदि के उपन्यासों से होता है, उतना प्रेमचन्द के उपन्यासों से नहीं होता क्योंकि आगामी घटना का कुछ-कुछ पूर्वाभास मिल ही जाता है। शरत् के चरित्रप्रधान उपन्यासों में आगामी घटना का पता लगाना बड़ा मुश्किल है।

गबन के कथानक का शास्त्रीय विश्लेषण भी किया जा सकता है। रमानाथ के गहने चुराने से कथानक का उद्घाटन (Exposition) होता है। ऋण चुकाने की असफलता तथा जालपा से उसका हर समय दुराव-व्यापार का विकास (Growth of Action) है। ग़बन की घटना चरम सीमा (Climax) है। जालपा का कलकत्ते जाना और रमा से मिलना निगति (Denoument or Resolution) है। फैसले में रमानाथ की रिहाई अन्त (Catastrophe or conclusion) है।

भारतीय समीक्षाचार्यों की दृष्टि से भी हम ग़बन के वस्तुविन्यास को निम्नलिखित ढङ्ग से सुलझा सकते हैं :—
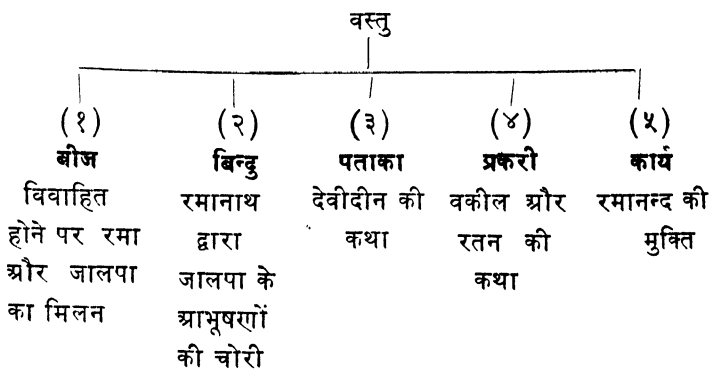
यह तो कथाङ्गों की दृष्टि से विवेचन हुआ। उपन्यास के प्रमुख पात्रों के

साथ इन कथांशों का किस प्रकार सक्रिय सम्बन्ध है, यह भी निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

ऊपर की तालिका में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी यहाँ दे दी जाती है :—

बीज—मुख्य फल का हेतु वह कथाभाग जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है।

बिन्दु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवांतर कथा को अविच्छिन्न बनाए रखती है।

पताका—जब कथावस्तु बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती है तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं।

कार्य—जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गई हो।

प्रारम्भ—जिसमें फल-प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है।

प्रयत्न—जिसमें उस फल की प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाता है।

प्राप्त्याशा—जिसमें सफलता की सम्भावना जान पड़ती है यद्यपि साथ ही विफलता की आशङ्का भी बनी रहती है।

नियताप्ति—जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है।

फलागम—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

यद्यपि आधुनिक समीक्षा-पद्धति में इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता और न प्रत्येक उपन्यास में पाँचों तत्त्व विद्यमान ही रहते हैं तथापि संयोग से 'ग़बन' में पाँचों तत्वों का आकलन होने के कारण पाठकों का उनकी ओर ध्यान आर्कषित करना निरर्थक सिद्ध न होगा।

चरित्र-चित्रण उपन्यास का मूल तत्त्व है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व से उपन्यास बहुत प्रभावोत्पादक हो जाता है। रमानाथ के अन्तर्द्वन्द्व तथा बहिर्द्वन्द्व का लेखक ने अच्छा चित्रण किया है। रमा यथार्थ-वादी चरित्र है और अपनी वर्गगत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है, बहुत से कालेजीय नवयुवक भी सम्भवतः रमा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लें। वह जो कुछ नही है, वही बनना चाहता है, इसलिए सब दुर्घटना घटित होती है। जालपा के साथ उसका दुराव ही सारे अनर्थ की जड़ है। वह घट-नाओं के चक्र-व्यूह में फँसता ही चला जाता है, बात खुलती ही नहीं है। वह इतना निकृष्ट नही है किन्तु सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण वह बनता बहुत है और इस बनने की आदत ने उसके गुणों को दबा-सा दिया है। वह सामान्य व्यक्ति है। अपने संकोच के कारण वह परिस्थितियों के जाल को सुलझा नहीं पाता। परिस्थितियों से बाधित होकर वह ग़बन तो कर सकता है किन्तु आत्म-गोपन की वृत्ति से बाज नहीं आ सकता। रमा के प्रति पाठक को क्रोध अथवा घृणा नहीं हो सकती, वह उस पर केवल तरस खा सकता है। मध्यम-वर्ग की मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व रमा करता है। पाठक का क्रोध जागृत होता है उस समाज के प्रति जिसके कारण आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियों को

पोषण मिलता है । रमा में दूरदर्शिता और विचारों की स्थिरता नहीं । ग़बन करने के बाद तो वह और भी पतनोन्मुख हो जाता है, इसके विरुद्ध ग़बन वाली घटना के बाद जालपा के हृदय की उदात्त वृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं । रमा आरामपसन्द है, उसमें कष्ट-सहिष्णुता नाम को भी नहीं। विकार-ग्रस्त होते-होते उसकी बुद्धि भी पंगु हो गई है । नैतिकता-अनैतिकता का भी उसे कोई विचार नहीं । मानसिक दासता का वह प्रतिनिधि-सा बन जाता है, उसकी बुद्धि पर भी उसका आरामतलब मन ही हावी हो जाता है । चाहे निरपराध आदमियों को फाँसी क्यों न हो जाय, अगर उसे सुखमय जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल जाय तो उसे किसी की कुछ परवाह नही । इब्सन आदि लेखक पात्रों को ऐसी स्थिति से निकालना अच्छा नहीं समझते पर प्रेमचन्द जैसा आदर्शवादी लेखक भला ऐसा क्यों होने देता ? जालपा और देवीदान को साधन बनाकर वह रमा को उबार लेता है । रमा जहाँ यथार्थवादी चरित्र है, जालपा में इसके विरुद्ध आदर्शवादिता अधिक है । आरम्भ में उसका जैसा आभूषण-प्रेम दिखलाया गया है, आगे चलकर उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप आभूषणों से उसे विराग भी हो जाता है । अपने शृंगार की सामग्री को रतन के मना करने पर भी वह गङ्गा में बहा देती है । इससे जान पड़ता है कि जालपा का आभूषण-प्रेम तो परिस्थितिजन्य है । यह उसके चरित्र की मौलिक विशेषता नहीं ! ग़बन के पहले वह अपने आभूषणों के शौक को पूरा करने वाली प्रेम-गर्विता नायिका के रूप में ही पाठकों के सामने उपस्थित हुई है । रमा के अत्यधिक प्रेम करने के कारण ही वह अपने पर भी गर्व करने लगी थी । ग़बन की घटना के बाद उसका अब तक छिपा हुआ रूप प्रकाश में आता है । यद्यपि उपन्यासकार ने उसे निर्दोष चित्रित किया है किन्तु अब वह अपने को ही सब अनर्थों का मूल कारण समझने लगती है । घटनाओं के घात-प्रतिघात के कारण वह जागरूक होती है । बुद्धि, निर्भयता, कार्य-पटुता, सामयिक सूझ आदि गुण अब उसमें व्यक्त होने लगते हैं । । निश्चय की दृढ़ता तथा निर्णय करने की क्षमता ये उसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं । कर्त्तव्य-पालन की भावना से प्रेरित होकर वह अपने पापों का भी घोर प्रायश्चित्त करती है । उसका महान् व्यक्तित्व सुन्दरतम गुणों का प्रतिनिधित्व करने लगता है ।

देवीदीन यद्यपि अप्रधान-सा चरित्र लगता है किन्तु जहाँ लेखक ने उसके चरित्र के प्रति बड़ा अनुराग दिखलाया है, वहाँ वह ग़बन के बाद नायक-नायिका की प्रवृत्तियों में सक्रिय भाग भी लेता है। अपढ़ होते हुए भी वह कर्त्तव्यपरायण, दयालु, निर्भय, व्यवहारकुशल और उदात्त मनोवृत्तियों का पुरुष है। अपने पुत्र-मरण की क्षति-पूर्ति मानो वह रमा के प्रति आर्द्र व्यवहार दिखलाकर कर लेता है। रमा को छुड़ाने के लिए वह चाहे जितना रुपया खर्च करने के लिए तैयार हो जाता है।

यद्यपि लेखक ने 'ग़बन' को सुखान्त रखा है किन्तु जोहरा और रतन की मृत्यु पाठक के मानस-पट पर विषाद की रेखा छोड़े बिना नहीं रहती। इस प्रकार यह उपन्यास दुःखान्त-सुखान्त का मिश्रण-सा हो गया है।

२३ :

राजस्थानी कहावतें*

संसार के सभी देशों और सभी जातियों में कहावतों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सांसारिक व्यवहार-पटुता और सामान्य बुद्धि का जैसा निदर्शन कहावतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कहावतें मानव-स्वभाव और व्यवहार-कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती हैं और वर्त्तमान पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में पूर्वजों से प्राप्त होती हैं। जिस देश के लोक-जीवन में प्रफुल्लता, उत्साह और व्यवहार-पटुता की धारा निरंतर गतिशील रहती है, उस देश में कहावतों का प्राचुर्य सामान्यतः देखने में आता है। पथ-प्रदर्शन की दृष्टि से भी कहावतों की उपादेयता सहज ही समझ में आ जाती है। क्या घर और बाहर, प्रायः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उद्बोधन के रूप में चिरकाल से कहावतें उपयोगी सिद्ध होती रही हैं। समाज में मनुष्य किस तरह व्यवहार करे जिससे लोक-जीवन के साथ-साथ उसका व्यक्तिगत जीवन भी सुखमय हो सके, इसका निर्देश प्रचलित कहावतों में साधारणतः मिल जाता है। सामान्यतः मनुष्य कुछ खोकर सीखता है किन्तु वही शिक्षा यदि उसे कहावतों के रूप में सुलभ हो जाय तो वह बहुत से कंटकाकीर्ण पथों से अपनी रक्षा कर सकता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह भी है कि लाक्षणिक वक्रता लिये हुए कहावत के रूप में प्रयुक्त कोई मुहावरेदार वाक्य कभी-कभी हमारे मानस-पट पर इस प्रकार अंकित हो जाता है कि उसकी छाप मिटाये नहीं मिटती। बहुधा ऐसा भी देखने में आया है कि अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों से जिस संदेह का समाधान नहीं होने पाता, वह संदेह बात की बात में एक समयोचित लोकोक्ति द्वारा दूर हो जाता है, हमारी समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता है और

---

*बंगाल हिन्दी मण्डल द्वारा पुरस्कृत लेखक की 'राजस्थानी कहावतें' शीर्षक पुस्तक की भूमिका का कुछ अंश।

तुरन्त ही उस सारगर्भित उक्ति के तथ्य पर हम विश्वास करने लगते हैं। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आये हैं जब कहावतों की इस आश्चर्यजनक शक्ति को देखकर मैं मन ही मन ताकता रह गया हूँ! वह भाषा सचमुच ही समृद्ध है और उसके बोलने वाले वस्तुतः भाग्यशाली हैं जिसमें सांसारिक ज्ञान और अनुभव के रूप में कहावतों का अटूट भण्डार सुरक्षित है। राजस्थानी भाषा भी इस दृष्टि से काफी सम्पन्न कही जा सकती है।

साहित्य की दृष्टि से भी कहावतों का कम महत्त्व नही। कहावतें भाषा का शृंगार हैं, उनके प्रयोग से भाषा में सजीवता और स्फूर्ति का संचार हो जाता है। इसीलिए कुछ आलंकारिकों ने तो लोकोक्ति नामक एक स्वतन्त्र अलंकार ही मान लिया है। विशेषतः उपन्यास और कहानियों में तो कहावतों का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य हो उठता है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की रचनाओं में जो कहावतों की बहार दिखलाई पड़ती है, उससे उनके द्वारा लगाया हुआ साहित्योपवन अत्यन्त हरा-भरा और सजीव जान पड़ता है। लोकोक्तियों के यथास्थान प्रयोग से उन्होंने भाषा में जादू भर दिया है।

योरप आदि देशों में तो शिक्षा-पद्धति में भी कहावतों का बड़ा उपयोग किया जाता है। रचनाशास्त्र का अध्यापक विचार-विश्लेषण की आदत डालने और उसे प्रोत्साहित करने के लिए अपने छात्रों के सामने एक कहावत रख देता है जिसको लेकर वे या तो किसी कथानक की उद्भावना करते हैं अथवा लोकोक्ति के तथ्य को चरितार्थ करने वाली किसी घटना का आविष्कार करते हैं। कभी-कभी किसी कहावत को वादविवाद का रूप भी दे दिया जाता है, जिसके पक्ष और विपक्ष में अपने-अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर छात्रों को मिल जाता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि कहावतों का सत्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं होता। बहुत-सी कहावतों में स्थान और काल से आवद्ध सीमित जीवन की ही अभिव्यक्ति हो पाती है जिसमें देश, काल तथा भौगोलिक स्थिति की भिन्नता से सत्य का रूप भी बदल जाता है। एक परिस्थिति-विशेष में जो सत्य है—वही परिस्थिति की भिन्नता से असत्य का बाना धारण कर लेता है। बहुत सी कहावतें ऐसी हैं जिनमें विभिन्न जातियों के विभिन्न चित्र मिलते हैं। अधिकांश कहावतों में देश

अथवा जाति-विशेष के संचित अनुभवों की निधि सुरक्षित रहती है। किसी विद्वान् ने कहावतों को मानव-जाति के अलिखित कानून-संग्रह का नाम दिया है किन्तु इस प्रकार की परिभाषा तो कतिपय सार्वदेशिक और सार्वकालिक कहावतों के लिए भले ही लागू पड़े, बहुतांश में तो यह अव्याप्ति दोष से दूषित ही कही जायगी।

कहावत की वैज्ञानिक परिभाषा देना कोई सरल काम नहीं है। अपने कथन की पुष्टि में, किसी को शिक्षा या चेतावनी देने के उद्देश्य से, किसी बात को किसी आड़ में कहने के अभिप्राय से अथवा किसी को उपालम्भ देने व किसी पर व्यंग्य कसने के लिए अपने में स्वतन्त्र अर्थ रखने वाली जिस सार-गर्भित लोकप्रचलित संक्षिप्त उक्ति का लोग प्रयोग करते हैं, उसे सामान्यतः कहावत का नाम दिया जा सकता है। कहावत का यह लक्षण बहुत व्यापक होते हुए भी सर्वथा निर्दोष होने का दावा नहीं करता क्योंकि राजस्थानी भाषा में ही कहावत कहने की इतनी शैलियाँ प्रचलित हैं कि उन सबका समावेश इस परिभाषा की परिधि में नहीं किया जा सकता; फिर भी सारगर्भत्व, संक्षिप्तता, नुकीलापन, उक्ति-वैचित्र्य, चटपटापन, तुक-साम्य आदि कहावत-सम्बन्धी सामान्य विशेषताएँ निर्धारित की जा सकती हैं।

कहावतें सामान्यतः ऐसी मिलती हैं जिनके निर्माता का पता नहीं चलता किन्तु कभी-कभी बहुत से कवियों की सूक्तियाँ कहावत का रूप धारण कर लेती हैं, प्रयोक्ताओं को इस बात का ज्ञान भी नहीं रहता कि वे किस कवि-विशेष की उक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। उदाहरणार्थ 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' संस्कृत की एक सुप्रसिद्ध कहावत है जिसका प्रयोग संस्कृत से अनभिज्ञ पाठक भी करते रहते हैं। उनको क्या पता कि इन्दुमती स्वयंवर का वर्णन करते हुए पुराकाल के मनीषी कवि की लेखनी से निम्नलिखित श्लोक निकल पड़ा था जिसकी चतुर्थ पंक्ति ने कहावत का रूप धारण कर रखा है—

अथांगराजादवतार्यचक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ॥
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यक्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥

संस्कृत साहित्य में अर्थान्तरन्यास के रूप में प्रयुक्त बहुत सी पंक्तियाँ

आज कहावतों के रूप में परिवर्तित हो गई हैं किन्तु जो कहावतें किसी काव्य-विशेष की सूक्तियाँ न होकर श्रुति-परम्परा द्वारा लोगों के मानस-पट पर अंकित हैं, उनका काल-निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की कहावतें तो भावी पीढ़ी को बपौती के रूप में प्राप्त होती रहती हैं और लिखित रूप धारण न करने पर भी, न जाने, कितनी सहस्राब्दियों से उनका प्रयोग होता रहता है।

किन्तु कहावतों का काल-निर्धारण न होने पर भी उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता क्योंकि उनके द्वारा देश-विशेष अथवा जाति-विशेष की विचार-धाराओं, जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, सदाचार, शिष्टता, नैतिक आदर्श तथा सामाजिक संगठन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है जिसके द्वारा अतीत के गर्भ में छिपे हुए बहुत से खण्डहर चमक उठते हैं। समाजशास्त्र का विद्वान् यदि अनु-संधान करे तो वह उनकी सहायता से तत्कालीन सामाजिक जीवन के नमूनों का एक रेखा-चित्र उपस्थित कर सकता है।

कहावतों के निर्माण में तुक-साम्य का बड़ा हाथ रहता है। तुकान्त-रचना आसानी से याद हो जाती है और स्मृति में चिरस्थायित्व प्राप्त कर लेती है। भूल जाने पर भी अपेक्षाकृत सरलता से वह स्मृति-पथ में लाई जा सकती है। सामान्य जनता को शुष्क गद्यात्मक वाक्य की अपेक्षा तुकान्त रचना में स्वभावतः अधिक आकर्षण मिलता है। यही कारण है कि तुकान्त लोकोक्तियाँ अधिक लोकप्रिय हो जाती हैं। किन्तु तुकान्त-लोकोक्तियों में तुक की ओर पहले ध्यान दिया जाता है, अर्थ की ओर बाद में। इस प्रकार कई लोकोक्तितों में तुक का चमत्कार जितना मिलता है, उतना सत्य का नहीं। सत्य को लक्ष्य में रखकर तुक पर नहीं पहुँचा जाता जितना तुक को लक्ष्य में रखकर बाद में सत्य का निर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ राजस्थानी कहावतें लीजिए—

१—आँख फड़ूकै बांईं। कै बीर मिलै कै सांईं।

२—आँख फड़कै दहणी। लात घमूका सहणी।

अर्थात् यदि स्त्री की बाँईं आँख फड़के तो या तो भाई मिले या पति मिले। यदि दाहनी आँख फड़के तो उसे 'लात घमूका' सहना पड़े। साधारणतः

स्त्री की बाँईं आँख का फड़कना शुभ और दाहिनी आँख का फड़कना अशुभ समझा जाता है किन्तु इस लोकोक्ति में शुभाशुभ परिणाम का जो स्वरूप उपस्थित किया गया है, वह सब तुक-देवी की कृपा है।

कुछ कहावतें ऐसी हैं जिनमें तुक के साथ-साथ सत्य भी बड़े सुन्दर रूप में प्रकट हुआ है—

१—भूख कै लगावण कोनी, नींद कै बिछावण कोनी।

अर्थात् जहाँ भूख है, वहाँ कोरी-मोरी रोटी ही अमृत है—वहाँ साग-सब्जी क्या ? और जिन आँखों में नींद है, वहाँ बिस्तर कैसे ? 'जिन अँखियन में नींद घनेरी, तकिया और बिछौनी क्या री !' इस उक्ति को सुनते ही जैसे हम सोलह आने सचाई के कायल हो जाते हैं। इसे ही काव्य में प्रत्यभिज्ञा का आनन्द (Pleasure of recognition) कहा गया है।

२—जाये लाख, रहे साख।

अर्थात् लाखों रुपये चाहे चले जायँ किन्तु साख न जाने पावे।

३—मँहगो रोवै एक बार, सँहगो रोवै बार-बार।

इस कहावत में भी बड़ी सुन्दर व्यावहारिक बात कही गई है।

विस्तार-भय मे अधिक उदाहरण नहीं दिये जा सकते।

साधारणतः कहावतें लम्बी नहीं होतीं किन्तु कभी-कभी प्रश्नोत्तर के रूप में भी कुछ उक्तियाँ इस प्रकार प्रचलित हो जाती हैं कि हम उन्हें कहावतों के अतिरिक्त दूसरा नाम दे ही नहीं सकते। राजस्थानी भाषा में प्रश्नोत्तर के रूप में प्रचलित कहावतों का भी अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ—

१—ठाकरां, घोड़ी ठेका तीन देसी। ठाकर यार तो पहलै ही ठैकै आसी, दोय तो एकली देसी। अर्थात् किसी ने कहा—ठाकुर साहब ! जिस घोड़ी पर आप सवार हो रहे हैं, वह तीन बार उछाल मारेगी। उत्तर मिला कि ठाकुर तो पहली ही उछाल में जमीन पर गिर पड़ेगा, दो उछाल तो घोड़ी अकेली ही देगी। इस प्रश्नोत्तर में जैसे हास्य और व्यंग का फव्वारा छूट रहा हो !

२—ठाकरां, भागो किसाक ? कै गैल की मार जाणिये। अर्थात् ठाकुर साहब, भगने में आप कैसे हैं ? उत्तर मिला—पीछा करने वाले की मार जैसी हो।

३—चौधरी बैठ्यो है ? कै तू गुड़ा दे। अर्थात् किसी ने पूछा—चौधरी ! बैठे हुए हो ! उत्तर मिला—यदि तुझे नहीं सुहाता तो लुढ़का दे।

उक्त कहावतों में चाहे सारगर्भत्व और गरिमा का पुट न हो किन्तु इनमें वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार तो है ही जो चित्त को चमत्कृत और प्रफुल्लित कर देता है।

कुछ कहावतें ऐसी हैं जो पूरे पद्य के रूप में प्रचलित हैं। एक मियांजी से खाना खाने के लिए कहा तो तुरन्त बिसमिल्ला कहकर तैयार हो गये किन्तु जब मौका पड़ने पर उन्हीं मियांजी से छान उठाने के लिए कहा तब कहने लगे—हम तो बुड्ढे हैं, किसी जवान को बुलाओ—

आवो मीयाँ खाणा खावो, बिसमिल्ला झट हाथ धुलावो।
आवो मीयां छान उठाओ, हम बूढ़ा कोई ज्वान बुलावो॥

इसी से मिलती-जुलती एक और कहावत सुनी जाती है, जो यद्यपि पद्य के रूप में नहीं है। यथा,

खां साब लकड़ी ल्याओ तो कै ये काफर का काम। खां साब खिचड़ी खाओ तो कै बिसमिल्ला। जब इस प्रकार के दो मनुष्य परस्पर मिल जायें जहाँ लेन-देन के लिए केवल रामनाम हो, वहाँ निम्नलिखित पद्यात्मक कहावत का प्रयोग बहुधा किया जाता है—

ऐसा को तैसा मिल्या, बामण को नाई।
ऊं दीनी आसकाँ, बो आरसी दिखाई॥

अर्थात् जैसे को तैसा मिल गया। जब ब्राह्मण और नाई की भेंट हुई तो ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया और नाई ने दर्पण दिखा दिया !

जो केवल ऊपरी सजधज दिखलाता है, जिसे बोलने तक का शऊर न हो, उसके लिए निम्नलिखित लोकोक्ति बहुधा सुनने में आती है—

कँवर जी महलां सें उतर्या, भोडळ को भळको ।
बतळायां बोलै नहीं, बोलै तो डबको ॥

अनेक प्रकार की लोकोक्तियाँ राजस्थान में प्रचलित हैं । बहुत सी ऐसी भी कहावतें हैं जिनकी उत्पत्ति का सम्बन्ध किसी घटना-विशेष से है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो लोकोक्तियों को लीजिये—

१. नो पेठा तेरा लगवाळ, घोड़ली नै लेगो कोतवाल ।

एक व्यापारी के पास ९ कुष्माण्ड थे । वह उन्हें बेचने के लिए एक नगर में प्रविष्ट हुआ तो वहाँ के अधिकारियों ने कर के रूप में उससे नवों कुष्माण्ड तो ले लिये, फिर भी कर वसूल करने वाले चार और बाकी रह गये । कोतवाल ने तो उसकी घोड़ी ही छीन ली । बेचारा देखता का देखता ही रह गया । जहाँ का शासन-प्रबन्ध अन्यायपूर्ण हो, वहाँ इस उक्ति का प्रयोग किया जाता है किन्तु जब तक उक्त अन्तर्गत कथा को न समझ लिया जाय, तब तक कहावत का मर्म समझ में नहीं आता ।

२—घोड़ी कठै बाँधूं ? कै जीभ कै । एक चारण किसी ठाकुर के यहाँ बहुधा आया-जाया करते थे जहाँ उनकी बड़ी आवभगत होती थी । चारण ने ठाकुर से कई बार कहा कि ठाकुर साहब, कभी तो बंदे की झोंपड़ी भी पवित्र कीजिए । एक बार ठाकुर साहब घूमते-घामते घोड़ी पर सवार होकर उधर से जा निकले । परस्पर आवश्यक अभिवादन के अनन्तर चारण से पूछा गया कि घोड़ी कहाँ बाँधी जाय ? चारण के वहाँ क्यों कभी घोड़ी बँधी थी ! उसने उत्तर दिया—इस जीभ के बाँध दीजिए जिससे यह अपराध हो गया कि इसने बिना विचारे आपको निमन्त्रण दे दिया !

कहावतों में कभी-कभी बड़े सुन्दर अलंकारों का प्रयोग हो जाता है । 'आभा की सी बीजळी, होळी की सी झळ ।' राजस्थानी की एक प्रसिद्ध कहावत है जिसमें किसी नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह बादल में की बिजली की तरह अथवा दीप्ति में होली की ज्वाला के समान है । पूर्वार्द्ध की उपमा में नायिका का चापल्य, आकर्षण, लुकाछिपी, चकाचौंध करने की शक्ति एक साथ व्यंजित हो रही है । संयोग की बात है कि

स्वर्गीय प्रसादजी ने भी कामायनी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कुछ इसी तरह की बात कही है—

"खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।"

एक रूपक का भी मार्मिक प्रयोग देखिये। 'चालणी को पींदो र पूतमुई की छाती।' अर्थात् उस स्त्री का हृदय जिसका पुत्र काल-कवलित हो गया हो, चलनी का पेंदा ही समझिये। जैसे चलनी के पेंदे में सैकड़ों छिद्र होते हैं, उसी प्रकार पुत्र-शोक से विह्वला माता के हृदय में भी असंख्य छेद हो जाते हैं। वह कभी पुत्र की किसी वस्तु को देखती है, स्मरण करती है अथवा दूसरों से सुनती है तो उसका हृदय शतधा विदीर्ण होकर चलनी हो जाता है। आरोप का औचित्य यहाँ देखते ही बनता है।

आक्षेप अलंकार के लोकोक्तिगत दो उदाहरण और देखिये—

१. राजा को बेटो केरड़ी मारदी म्हे क्यूं कहाँ? अर्थात् राजा के लड़के ने बछिया मारदी, मैं क्यों कहूँ?

२. गूगो बड़ो क राम? कै बड़ो तो है सो ही है पण साँपाँ कै देवता नै कुण रुसावै? अर्थात् गूगा बड़ा या राम? उत्तर दिया कि बड़ा जो है सो ही है (अर्थात् राम ही बड़ा है) किन्तु यह शब्दतः कहकर साँपों के देवता गूगा को रुष्ट कौन करे?

उक्त दोनों लोकोक्तियों में कही हुई बात का बड़े सुन्दर ध्वन्यात्मक ढंग से निषेध कर दिया गया है। बात कह भी दी गई है और प्रतिषेध भी कर दिया गया है।

कुछ कहावतें ऐसी भी मिल जाती हैं जिनमें आपाततः विरोध दिखाई पड़ता है। 'भाई बरोबर बैरी नहीं, र भाई बरोबर प्यारो नहीं' इस लोकोक्ति में एक ही साँस में दो विरोधी बातें कह दी गई हैं। 'कपूत आयो भलो न जायो।' अर्थात् कुपुत्र किसी प्रकार अच्छा नहीं किन्तु एक अन्य कहावत में कहा गया है—

खोटो पीसो खोटो बेटो ओडीवर को माल।

अर्थात् खोटा पैसा और कुपुत्र कभी न कभी विपत्ति-काल में काम दे ही

देते हैं। कहावतों में इस प्रकार के विरोधाभास को देखकर चौंकने की आवश्यकता नही क्योंकि हमारा जीवन ही अनेक प्रकार के विरोधाभासों से परिपूर्ण है। कहावतें वस्तुतः सम्पूर्ण सत्य नहीं हैं, वे सत्य के लिए संकेतमात्र उपस्थित करती हैं, वे चरम सत्य न होकर पथनिर्देश-मात्र का काम करती हैं। जिस प्रकार दर्पण-विशेष की भिन्नता के कारण प्रतिबिम्बों में भी भिन्नता आजाती है, उसी प्रकार देश, काल और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण न जाने जीवन-दर्पण में हमें कितने विभिन्न रग दिखलाई पड़ते हैं। सत्य वास्तव में एक बहुमुखी देव है जिसके मुखों की इयत्ता का अनुमान तक नही किया जा सकता, इतना ही नहीं, उसका एक मुख आकार-प्रकार में दूसरे मुख से बहुत कुछ भिन्न दिखलाई पड़ता है। चरम सत्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते-देते तो बड़े-बड़े दार्शनिकों की बुद्धि भी हैरान हो गई है। स्टीवेन्सन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु नही, हमारे सब सत्य अर्द्ध-सत्य मात्र हैं।[1] इसीलिए कहावतों का सत्य भी यदि सार्वदेशिक और सार्वकालिक न हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही। मार्ग-प्रदर्शन के लिए कहावतें श्रेष्ठ साधन का काम देती हैं किन्तु कोई उन्हे चरम सत्य का पर्याय समझने की भूल न करे। न्यायशास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि वे निरपेक्ष सत्य का निदर्शन नहीं, उनका सत्य सापेक्ष और सापवाद है।[2] कहावतों में अभिव्यक्त सत्य एक दृष्टिकोण मात्र है। भिन्न स्थान से लिये हुए चित्र में जैसे भिन्नता आजाती है, वैसे ही इस संसार को देखने में भी दृष्टिकोण की भिन्नता सर्वत्र मिलेगी और यह एक दृष्टि से वाञ्छनीय भी है। गणित के २ + २ = ४ की तरह जीवन का यथार्थ मूल्याङ्कन नही किया जा सकता। परिस्थितियों आदि की भिन्नता से हमारे जीवन के अनुभवों के मूल्य भी बदलते रहते हैं।

परिस्थितियों की भिन्नता से जीवन के मूल्य बदलते रहते हैं तो कभी-कभी कहावतों से हानि होने की सम्भावना भी बनी रहती है। सामान्य लोक-जीवन

---

1. "There is nothing like absolute truth in this world; all our truths are half-truths."—Stevenson.

2. Proverbs are moral universals, not logical universals.

में कहावतों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्रामीण जनता के लिए तो कहावतें वेद और शास्त्रों का काम देती हैं। शिक्षित व्यक्ति जिस प्रकार अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वेद-शास्त्रों का हवाला देता है, उसी प्रकार ग्रामीण व्यक्ति कहावतों के अटूट भंडार का आश्रय लेता है। अन्धविश्वासों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी कहावतें भी ग्रामीण जनता में बहुधा सुनाई पड़ती हैं जिनसे चिपटे रहना ग्रामीण जनता के स्वभाव में शामिल हो जाता है। कहावतों में ऐसी अद्भुत शक्ति पाई जाती है कि वे प्रयोक्ताओं की ओर से अपने प्रति आस्था और विश्वास के भाव उत्पन्न करा लेती हैं किन्तु जिस आस्था के मूल में अन्ध-विश्वास काम कर रहा हो, वह अनर्थ की ही जड़ सिद्ध हो सकती है। समय-परिवर्तन के साथ-साथ जहाँ परम्परागत रूढ़ियों और रीति-रिवाजों में भी परिवर्तन होना चाहिए, वहाँ कहावतें कभी-कभी बाधक होती हैं। हमारे देश में स्वर्णिम अतीत के स्वप्न देखने की प्रथा-सी चल पड़ी है; वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल अपने जीवन को साँचे में ढालकर उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करना हमें नही भाता। अतीत से प्रेरणा प्राप्त करना बुरा नहीं किन्तु इसका ध्यान रखना चाहिए कि अतीत हमारी उन्नति के मार्ग में रोड़े न अटकाने पावे। कहावतों की आधारशिला पर हमारी परंपरागत रूढ़ियों के स्तूप चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहते हैं। इस दृष्टि से कुछ कहावतों में वह गतिशीलता नहीं मिलती जो पल-पल परिवर्तित और विक-सित होते हुए जीवन का अनिवार्य अंग है; कभी-कभी तो वे पुराणपन्थी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने लगती हैं जिसमें आधुनिक जीवन का स्पन्दन नहीं मिलता—इसलिए जो निश्चेष्टता एवं निर्जीवता अथवा जड़ता की प्रतीक मात्र रहकर लोक-जीवन के समुचित विकास में बाधा पहुँचाने लगती हैं। विचार-स्वातन्त्र्य की भावना को भी इस प्रकार की कहावतें पनपने नही देतीं क्योंकि अधिकतर कहावतें आदेशात्मक हैं। वे व्यक्ति के कर्त्तव्य पर तो जोर देती हैं किन्तु व्यक्ति को समाज से भी कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होने चाहिएँ, इस सम्बन्ध में वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। वे एक प्रकार से नुस्खा रख देती हैं, ऐसा नुस्खा जो बाबा आदम के जमाने में बना था। जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण को वे ग्रहण नहीं करने देतीं। प्रतिभा को जीवन के नये-नये मार्गों की ओर उन्मुख नहीं करतीं। वातावरण की एकरसता जड़ता का ही दूसरा

नाम है। निष्क्रिय भाव से वातावरण को अपना लेना सजीवता का लक्षण नहीं है। हमारे गाँवों की सभ्यता में पुस्तकों का स्थान नही के बराबर है। कला-कौशल, कृषि, गो-पालन, घोड़ों, गायों, ऊँटों आदि की बिक्री और खरीद के सम्बन्ध में ग्रामीण जनता कहावतों पर ही निर्भर रही है। श्रुति-परम्परा ने कहावतों की समृद्धि में बड़ा योग दिया है। कहावतों की अधिकता गाँवों में ही देखी जाती है। ग्राम-जीवन में परिवर्तन बहुत कम होता है, सभ्यता का आलोक भी वहाँ धीरे-धीरे पहुँचता है किन्तु नागरिक जीवन में नूतन से नूतन विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। नागरिक जीवन में बुद्धि की काट-छाँट और कतरब्योंत बहुत चलती है, इसलिए वहाँ विश्लेषण की प्रधानता से कहावतें भी उतनी सुनाई नहीं पड़तीं। दार्शनिक ग्रन्थों में भी जहाँ विश्लेषण की प्रमुखता रहती है, बाल की खाल निकाली जाती है, कहावतों का प्रयोग देखने में नहीं आता।

आज के इस बुद्धिवादी युग को देखते हुए कहावतों का भविष्य भी बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई देता। इस यान्त्रिक युग में तो कृषि आदि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के आश्चर्यजनक परिवर्तन किये जा रहे हैं जिनकी सहायता से खेती वर्षा पर उतनी निर्भर ही न रह जायगी। वर्षा और खेती सम्बन्धी उन बहुत सी कहावतों का मूल्य भी सम्भवतः इस युग में न रह जायगा। इसलिए इस बात की नितान्त आवश्यकता जान पड़ती है कि बढ़ती हुई सभ्यता के इस युग में भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त कहावतों का संग्रह किया जाय क्योंकि सभ्यता और लोक-साहित्य में परस्पर विरोध देखा जाता है। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ लोक-साहित्य, जो अनुश्रुति पर आश्रित रहता है, क्षीण होने लगता है।

राजस्थानी कहावतों के अध्ययन करने में भी इस प्रान्त की सभ्यता और संस्कृति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कहावतों के रूप में प्रचलित निम्नलिखित वाद-प्रतिवाद को देखिए—

मरद तो मूंछ्याल बंको, नैण बंकी गोरिया।
सुरहळ तो सींगाळ बंकी, पौड़ बंकी घोड़िया।

अर्थात् मर्द तो मूँछों वाला ही श्रेष्ठ है, स्त्री बाँके नेत्र वाली, गाय सींगों वाली, तथा घोड़ी अच्छे पैरों वाली श्रेष्ठ होती है।

इस उक्ति को सुनकर राजस्थानी संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाला तुरन्त इसका संशोधन के रूप में प्रतिवाद उपस्थित करता है—

मरद तो जब्बान बंको, कूख बंकी गोरिया।
सुरहळ तो दूधार बंकी, तेज बंकी घोड़िया।।

मर्द तो वही है जो जबान का धनी हो, नारी वही है जो वीर-प्रसविनी हो, गाय वही है जो दूध देने वाली हो और घोड़ी वही है जो तेज चलने वाली हो। इस उक्ति में प्रतिज्ञा-पालन और वीर-जननी का कैसा उच्च आदर्श अभिव्यक्त हुआ है। राजस्थानी शौर्य के सम्बन्ध में कही हुई टॉड की वह प्रसिद्ध उक्ति इसीलिए तो कहावत के रूप में उद्‌धृत की जाती है। 'इळा न देणीं आपणी' लोरी देती हुई माता की यह वाणी आज भी राजस्थान के घर-घर में प्रसिद्ध है और सोये हुए राजस्थानी जीवन में आज भी प्राण फूँक देने में कितनी सबल सिद्ध हो सकती है।

कहावतों में स्त्री-जाति के प्रति भाव, शकुन-सम्बन्धी बहुत से विश्वास, कृषि और वर्षा-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त, खेती के सम्बन्ध में कहावतों की अधिकता, ऊँट-भैंस आदि के पर्याय शब्दों का आधिक्य, कन्या-जन्म के सम्बन्ध में मनोवृत्ति, जातिगत विशेषताएँ आदि अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे राजस्थानी संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। संस्कृति के कई भग्नावशेष इन लोकोक्तियों में छिपे पड़े हैं जिनके अनुसन्धान, अन्वेषण और तुलनात्मक अध्ययन द्वारा राजस्थानी संस्कृति के बहुत से तथ्यों का जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ भारतीय संस्कृति की अखण्डता पर भी हमारी दृष्टि गये बिना नहीं रहती। भारतीय संस्कृति की अखण्डता पर आजकल के इतिहासकार चाहे लाख संदेह किया करें, सच्चा इतिहास तो लोक-साहित्य में सुरक्षित रहता है जिसके द्वारा तिथियों का ज्ञान चाहे न हो पावे, तथ्यों का ज्ञान अवश्य हो जाता है। इस दृष्टिकोण को लेकर कहावतों का अध्ययन और संग्रह नितान्त वांछनीय है। यूरोपियन भाषाओं में इस प्रकार के प्रयत्न हुए हैं, भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है।